विवेकानन्दजी की कथाएँ

(द्वितीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम,

नागपुर, मध्यप्रदेश

दिसम्बर १९५४]

[मूल्य १)

अनुक्रमणिका

नास्तिक हो गया, किसी में भी विश्वास नहीं। भक्ति किसे कहते हैं यह जानता ही न था। और यदि कहा जाय कि उस समय में हाथ-पैरवाला एक अत्यन्त अभिमानी अजीब जानवर था, तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी। उस समय सभी धर्मों में मैंने दोष ही देखा और सभी को अपनी अपेक्षा नीच माना — पर हाँ, यह भावना मेरे मन में ही रहती थी, यद्यपि ऊपर से मैं कुछ दूसरा ही प्रकट किया करता था।

ईसाई मिशनरी इस समय मेरे पास आने-जाने लगे। अन्य धर्मों की निन्दा एवं दावँ-पेंच के साथ अनेक तर्क-युक्ति करके अन्त में उन्होंने मुझे समझाया कि विश्वास के बिना धर्म-राज्य में कुछ भी नहीं हो सकता। ईसाई धर्म में पहले विश्वास करना आवश्यक है, तभी उसकी नूतनता और अन्य सब धर्मों की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता समझी जा सकती है। परन्तु अद्भुत गवेषणा और पाण्डित्य से भरी उन बातों से मुझ नास्तिक का मन बदला नहीं। पाश्चात्य विद्या की कृपा से सीखा है, "प्रमाण बिना किसी में भी विश्वास नहीं करना।" किन्तु मिशनरी प्रभु बोले, "आगे विश्वास, पीछे प्रमाण।" परन्तु मन समझे कैसे? अतएव वे अपनी बातों से किसी भी मत में मेरा विश्वास पैदा नहीं कर सके। तब उन्होंने कहा, "मनोयोगपूर्वक समस्त बाइबिल पढ़ना आवश्यक है; तभी विश्वास होगा।" अच्छा, वैसा ही किया। दैवयोग से फादर रिविंगटन, रेवरेन्ड लेट्वार्ड, गोरे और बोमेन्ट आदि बहुत से विद्वान् निस्पृह और वास्तविक भक्त मिशनरियों से भी भेंट हुई; किन्तु किसी भी तरह ईसाई धर्म में विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ। उनमें से कुछ ने मुझसे यह भी कहा, "तुम्हारी बहुत उन्नति हो गई है, ईसा के धर्म में विश्वास भी हो गया है,

किन्तु जाति जाने के भय से ईसाई नहीं हो रहे हो।" उन लोगों की उन बात का फल यह हुआ कि क्रमशः मुझे अविश्वास के ऊपर भी सन्देह होने लगा। अन्त में यह निश्चय हुआ कि वे मेरे दस प्रश्नों के उत्तर देंगे और प्रत्येक प्रश्न के यथोचित समाधान के बाद मेरे हस्ताक्षर लेंगे। इस तरह जब दसवें प्रश्न के उत्तर में मेरे हस्ताक्षर होंगे, तभी मेरी हार होगी और वे मुझे बप्तिस्मा देंगे, अर्थात् अपने धर्म में अभिषिक्त कर लेंगे। पर तीन से अधिक प्रश्नों के समाधान के पहले ही कालेज छोड़कर मैंने संसार में प्रवेश किया। संसार में प्रवेश करने के बाद भी सभी धर्मों के ग्रन्थों को पढ़ता रहा। कभी चर्च में, कभी ब्राह्म मन्दिर में, तो कभी देवालय में जाया करता था; किन्तु कौनसा धर्म सत्य है, कौनसा असत्य, कौनसा अच्छा है, कौनसा बुरा, कुछ भी समझ न पाया। अन्त में मेरी धारणा हो गई कि परलोक या आत्मा के सम्बन्ध में कोई भी नहीं जानता—परलोक है या नहीं, आत्मा मरणशील है अथवा अमर, इन सब बातों का ज्ञान किसी को भी नहीं है। तो भी, धर्म जो भी हो, उसमें दृढ़ विश्वास कर लेने पर इस जीवन में बहुत-कुछ सुख-शान्ति रहती है, और यह विश्वास मनुष्य के अभ्यास से ही दृढ़ होता है। तर्क, विचार अथवा बुद्धि के द्वारा धर्म का सत्यासत्य समझने के लिए किसी में भी क्षमता नहीं। भाग्य अनुकूल था—अधिक वेतन की नौकरी भी मिली। उस समय मुझे रुपए-पैसों की कमी न थी, दस लोगों में प्रतिष्ठा भी थी, सुखी होने के लिए साधारण मनुष्य को जो-जो आवश्यक होता है, उस सबका भी कोई अभाव न था। किन्तु यह सब होने पर भी मन में सुख-शान्ति का उदय नहीं हुआ। किसी एक बात का अभाव मन में सर्वदा ही खटकता

रहता था। इस प्रकार दिन-पर-दिन और वर्ष-पर-वर्ष बीतने लगे।

* * * *

बेलगाँव—१८ अक्टूबर १८९२, मंगलवार। सन्ध्या हुए लगभग दो घंटे हुए हैं। एक स्थूलकाय प्रसन्नमुख युवा संन्यासी मेरे एक परिचित महाराष्ट्र वकील के साथ मेरे घर पर पधारे। मेरे वकील मित्र ने कहा, "ये एक विद्वान् बंगाली सन्यासी हैं, आपसे मिलने आए हैं।" घूमकर देखा—प्रशान्त मूर्ति, नेत्रों से मानो विद्युत्प्रकाश निकल रहा हो, दाढ़ी-मूँछ मुड़ी हुई, शरीर पर गेरुआ अँगरखा, पैर में मरहठी चप्पल, सिर पर गेरुआ पगड़ी। संन्यासी की उस भव्य मूर्ति का स्मरण होने पर अभी भी जैसे उनको अपनी आँखों के सामने देखता हूँ। देखकर आनन्द हुआ, और उनकी ओर मैं आकृष्ट हुआ। किन्तु उस समय उसका कारण नहीं समझ सका। उस समय मेरा विश्वास था कि गेरुआ वस्त्रधारी सन्यासीमात्र ही पाखंडी होते हैं। सोचा, ये भी कुछ आशा लेकर मेरे पास आए हैं। फिर, वकील बाबू हैं महाराष्ट्रीय ब्राह्मण, और ये ठहरे बंगाली। बंगालियों का महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के साथ मेल होना कठिन है; इसी लिए, मालूम होता है, ये मेरे घर में रहने के लिए आए हैं। मन में इस प्रकार अनेक संकल्प-विकल्प करके उन्हें अपने यहाँ ठहरने के लिए कहा, और उनसे , "आपका सामान अपने यहाँ मँगवा लूँ?" उन्होंने कहा, वकील बाबू के यहाँ अच्छी तरह से हूँ। और बंगाली देख-दि उनके यहाँ से मैं चला आऊँ, तो उनके मन में दुःख क्योंकि वे सभी लोग बड़ी भक्ति और स्नेह करते हैं; ठहरने-ठहराने के विषय में पीछे विचार किया जायगा।" रात कोई अधिक बातचीत न हो सकी, किन्तु उन्होंने जो

कुछ दो-चार बातें कहीं, उसी से अच्छी तरह समझ गया कि वे मेरी अपेक्षा हजारगुने अधिक विद्वान् और बुद्धिमान हैं; इच्छा मात्र से ही वे बहुत धन उपार्जित कर सकते हैं, तथापि रुपया-पैसा छूते तक नहीं, और सुखी होने के सभी साधनों के न होते हुए भी मेरी अपेक्षा हजारगुने सुखी हैं। मालूम पड़ा, उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं, क्योंकि उन्हें स्वार्थसिद्धि की इच्छा नहीं है। मेरे यहाँ नहीं रहेंगे यह जानकर मैंने फिर कहा, "यदि चाय पीने में कोई आपत्ति न हो, तो कल प्रातःकाल मेरे साथ चाय पीजिए; मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।" उन्होंने आना स्वीकार किया और वकील बाबू के साथ उनके घर लौट गए। रात में उनके विषय में बड़ी देर तक सोचता रहा, मन में आया--ऐसे निस्पृह, चिर-सुखी, सदा सन्तुष्ट, प्रफुल्लमुख पुरुष तो कभी देखे नहीं। मन में सोचा करता था—जिसके पास पैसा नहीं, उसका मर जाना अच्छा, जगत् में वास्तविक निस्पृह सन्यासी का होना असम्भव है। किन्तु इतने दिनों बाद उस विश्वास में सन्देह ने घर कर उसे शिथिल कर दिया।

दूसरे दिन (१९ अक्टूबर, १८९२ ईसवी) प्रातःकाल ६ बजे उठकर स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगा। देखते-देखते आठ बज गए, किन्तु स्वामीजी नहीं दिखाई पड़े। अन्त में अधीर होकर मैं अपने एक मित्र को साथ ले स्वामीजी के वास-स्थान की ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर देखता हूँ, एक महासभा जुटी हुई है। स्वामीजी बैठे हैं और उनके समीप अनेक प्रतिष्ठित वकील तथा विद्वान् लोग बैठे हैं; उनके साथ बातचीत हो रही है। स्वामीजी किसी को अँगरेजी में, किसी को संस्कृत में और किसी को हिन्दी में उनके प्रश्नों का उत्तर तुरन्त बिना समय लिए ही दे रहे हैं।

मेरे समान कोई-कोई हक्स्ले के दर्शन को प्रामाणिक मानकर उसके आधार पर स्वामीजी के साथ तर्क करने को उद्यत हैं। किन्तु वे किसी को हँसी में, किसी को गंभीर भाव में यथोचित उत्तर देकर सभी को चुप कर रहे हैं। मैंने जाकर प्रणाम किया और एक ओर बैठ गया और अवाक् होकर सुनने लगा। सोचने लगा--ये मनुष्य हैं या देवता? इसी लिए उनकी सभी बातें स्मृति में नहीं रह पाईं। जो कुछ स्मरण हैं, उनमें से कुछ निम्न-लिखित हैं :--

एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण वकील ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, सन्ध्या आदि आह्निक कृत्य के मन्त्र संस्कृत में हैं, हम लोग उन्हें समझ नहीं पाते। हमारे इन सब मन्त्रोच्चारण का क्या कुछ फल है?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "अवश्य, उत्तम फल है। ब्राह्मण की सन्तान होने के नाते इन संस्कृत मन्त्रों का अर्थ तो इच्छा रहने से सहज ही समझ ले सकते हो। फिर भी समझने की चेष्टा नहीं करते, इसमें भला दोष किसका? और यद्यपि तुम मन्त्रों का अर्थ नहीं समझते, तो भी जब सन्ध्या-वन्दन आदि आह्निक कृत्य करने बैठते हो, उस समय क्या सोचते हो--धर्म-कर्म कर रहा हूँ, ऐसा सोचते हो, या यह कि कोई पाप कर रहा हूँ? यदि धर्म-कर्म समझकर सन्ध्या-वन्दन करने के लिए बैठते हो, तो उत्तम फल पाने के लिए वही यथेष्ट है।"

इसी समय दूसरे एक व्यक्ति संस्कृत में बोले, "धर्म के सम्बन्ध में म्लेच्छ भाषा द्वारा चर्चा करना उचित नहीं है; अमुक ण में इसका उल्लेख है।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "किसी भी भाषा के द्वारा धर्म-

चर्चा की जा सकती है।" और अपने इस कथन के समर्थन में वेद आदि का प्रमाण देकर बोले, "हाईकोर्ट के फैसले को छोटी अदालत नही काट सकती।"

इस प्रकार नौ बज गए। जिन लोगों को आफिस या कोर्ट जाना था, वे सब चले गए। कोई-कोई उस समय भी बैठे रहे। स्वामीजी की दृष्टि मेरे ऊपर पड़ते ही उन्हें पूर्व दिवस की चाय पीने के लिए जाने की बात याद आ गई। वे बोले, "बच्चा, बहुतों का मन दुखाकर नही जा सकता था। दूसरा कुछ मत सोचना।" बाद में मैंने उनसे अपने निवास-स्थान पर रहने के लिए विशेष अनुरोध किया। इस पर वे बोले, "मै जिनका अतिथि हूँ, उन्हे यदि मना लो, तो मैं तुम्हारे ही पास रहने को प्रस्तुत हूँ।" वकील महाशय को समझा-बुझाकर स्वामीजी को साथ ले अपने स्थान पर आया। उनके साथ एक कमण्डलु और गेरुए वस्त्र में लपेटी हुई एक पुस्तक, बस इतना ही सामान था। स्वामीजी उस समय फ्रान्स देश के सगीत के सम्बन्ध में एक पुस्तक का अध्ययन कर रहे थे। घर पर आकर लगभग दस बजे चाय-पानी हुआ; इसके बाद ही स्वामीजी ने एक गिलास ठडा जल भी मँगवाकर पिया। यह देखकर कि मुझे अपने मन की कठिन समस्याओं के बारे में पूछने का साहस नही हो रहा है, उन्होंने स्वयं ही मुझसे दो-एक बाते की, और उसी से उन्होंने मेरी विद्या-बुद्धि को नाप लिया।

इसके कुछ समय पहले 'टाइम्स' नामक समाचार-पत्र में किसी व्यक्ति ने एक सुन्दर कविता लिखी थी, जिसका भाव था—'ईश्वर क्या है, कौनसा धर्म सत्य है—आदि तत्त्वों को समझना अत्यन्त कठिन है।' वह कविता मेरे तत्कालीन धर्म-

विश्वास के साथ खूब मिलती थी, इसलिए मैंने उसे यत्नपूर्वक रख छोड़ा था। उसी कविता को उन्हें पढ़ने के लिए दिया। पढ़कर वे बोले, "यह व्यक्ति तो भ्रान्ति में पड़ा है।" मेरा भी क्रमशः साहस बढ़ने लगा। "ईश्वर एक ही साथ न्यायवान और दयामय नहीं हो सकता" — इस तर्क की मीमांसा ईसाई मिशनरियों से नहीं हो सकी थी। मन में सोचा, इस समस्या को स्वामीजी भी नहीं सुलझा सकते। मैंने यह प्रश्न स्वामीजी से पूछा। वे बोले, "तुमने तो विज्ञान का यथेष्ट अध्ययन किया है। क्या प्रत्येक जड पदार्थ में केन्द्र से दूर जानेवाली (centrifugal) तथा केन्द्र की ओर आनेवाली (centripetal) ये दो विरुद्ध शक्तियाँ कार्य नहीं करती? यदि दो विरुद्ध शक्तियों का जड़ पदार्थ में रहना सम्भव है, तो दया और न्याय ये दोनों विरुद्ध होते हुए भी क्या ईश्वर में नहीं रह सकते? मैं इतना ही कह सकता हूँ कि अपने ईश्वर के सम्बन्ध में तुम्हारा ज्ञान नहीं के बराबर है।" मैं तो निस्तब्ध हो गया। मैंने फिर पूछा, "मुझे पूर्ण विश्वास है कि सत्य निरपेक्ष (Absolute) है। सभी धर्म एक ही समय कभी सत्य नहीं हो सकते।" उन्होंने उत्तर दिया, "हम लोग किसी विषय में जो कुछ भी सत्य के नाम से जानते हैं या कालान्तर में जानेंगे, वह सभी सापेक्ष सत्य (Relative truths) है — निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) की धारणा तो हमारी सीमाबद्ध मन-बुद्धि के द्वारा असम्भव है। इसी लिए सत्य निरपेक्ष होता हुआ भी विभिन्न मन-बुद्धि के निकट विभिन्न रूपों में प्रकाशित होता है। सत्य के वे विभिन्न रूप या भाव उस नित्य निरपेक्ष सत्य का अवलम्बन करके ही ..श्रित होते हैं, इसलिए वे सभी एक ही प्रकार या एक ही

श्रेणी के है। जिस तरह दूर और पास से फोटोग्राफ लेने पर एक ही सूर्य का चित्र अनेक प्रकार से दीख पड़ता है और ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक चित्र भिन्न-भिन्न सूर्य का है, उसी तरह सापेक्ष सत्य के विषय में भी समझना चाहिए। सभी सापेक्ष सत्य निरपेक्ष सत्य के साथ ठीक इसी रीति से सम्बद्ध है। अतएव प्रत्येक सापेक्ष सत्य या धर्म उसी नित्य निरपेक्ष सत्य का आभास होने के कारण सत्य है।"

'विश्वास ही धर्म का मूल है'—मेरे इस कथन पर स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा, "राजा होने पर फिर खाने-पीने का कष्ट नही रहता, किन्तु राजा होना ही तो कठिन है। क्या विश्वास कभी जोर-जबरदस्ती करने से होता है ? बिना अनुभव के ठीक-ठीक विश्वास होना असम्भव है।"

किसी प्रसग में उनको 'साधु' कहने पर उन्होंने उत्तर दिया, "हम लोग क्या साधु है ? ऐसे अनेक साधु है, जिनके दर्शन या स्पर्श मात्र से ही दिव्य ज्ञान का उदय होता है।"

"संन्यासी इस प्रकार आलसी होकर क्यो समय बिताते है ? दूसरो की सहायता के ऊपर क्यो निर्भर रहते है, और समाज के लिए कोई हितकर काम क्यो नही करते ?"—इन सब प्रश्नो के उत्तर मे स्वामीजी बोले, "अच्छा, बताओ तो भला, तुम इतने कष्ट से अर्थोपार्जन कर रहे हो। उसका बहुत थोड़ासा अश केवल अपने लिए व्यय करते हो; शेष मे से कुछ अंश दूसरे लोगों के लिए, जिन्हें तुम अपना समझते हो, व्यय करते हो। वे लोग उसके लिए न तुम्हारा उपकार मानते है और न उनके लिए जितना व्यय करते हो उनसे सन्तुष्ट ही होते है। रकम तुम कौड़ी-कौड़ी जोड़े जा रहे हो। तुम्हारे मर जाने पर कोई दूसरा

वे बोले, "ये सब प्रश्न तुम्हारे लिए नवीन हैं; किन्तु मुझसे
ितने ही मनुष्य कितनी बार इन प्रश्नों को पूछ चुके हैं, और
ा उत्तर कितनी ही बार दे चुका हूँ।" रात मे भोजन
समय और भी अनेक बाते उन्होने कही। पैसा न छूते हुए
भ्रमण करते-करते कहाँ कैसी-कैसी घटनाएँ हुई, यह सब
ा करने लगे। सुनते-सुनते मेरे मन मे हुआ—अहा! न
, इन्होने कितना कष्ट, कितनी विपत्तियाँ सही हैं। किन्तु वे
उन सब घटनाओ को इस प्रकार हँसते-हँसते सुनाने लगे,
ो वे अत्यन्त मनोरजक कहानियाँ हो। कही पर उनका तीन
ा तक बिना कुछ खाए रहना; किसी स्थान म मिर्ची खाने के
रण पेट में ऐसी जलन होना, जो एक कटोरी इमली का पना
ने पर भी शान्त नही हुई; कही पर 'यहाँ साधु-सन्यासियो
ा स्थान नहीं'—इस प्रकार झिड़के जाना, और कही खुफिया
लिस की कड़ी नजर मे रहना—आदि सब घटनाएँ, जिन्हे सुन
मारे शरीर का खून पानी हो जाय, उनके लिए तो मानो एक
मागा थीं।

रात अधिक हुई देखकर उनके लिए सोने का प्रबन्ध कर
ं भी सोने के लिए चला गया; किन्तु रात में नीद नही आई।
सोचने लगा—कैसा आश्चर्य, इतने वर्षो का दृढ सन्देह और
अविश्वास स्वामीजी को देखकर और उनकी दो-चार बाते सुनकर
ही दूर हो गया! अब और कुछ पूछने को नही रहा। जैसे-जैसे
दिन बीतने लगे, हमारी ही क्या—हमारे नौकर-चाकरों की भी
उनके प्रति इतनी श्रद्धा-भक्ति हो गई कि कभी-कभी स्वामीजी
उन लोगों की सेवा और आग्रह के मारे परेशान हो उठते थे।

२० अक्टूबर, १८९२ ईसवी। सबेरे उठकर स्वामीजी को

प्रणाम किया। इस समय साहस कुछ बढ़ गया है, श्रद्धा-भक्ति हुई है। स्वामीजी भी मुझसे अनेकों वन, नदी, अरण्य आदि का विवरण सुनकर सन्तुष्ट हुए हैं। इस शहर में आज उनका चौथा दिन है। पाँचवें दिन उन्होंने कहा, "संन्यासियों को नगर में तीन दिन से और गाँव में एक दिन से अधिक ठहरना उचित नहीं। मैं अब जल्दी चला जाना चाहता हूँ।" परन्तु मैं किसी प्रकार उनकी वह बात मानने को राजी न था। बिना तर्क द्वारा समझे मैं कैसे मानूँ! फिर अनेक वाद-विवाद के बाद वे बोले, "एक स्थान में अधिक दिन रहने पर माया-ममता बढ़ जाती है। हम लोगों ने घर और आत्मीयजनों का परित्याग किया है। अतः जिन बातों से उस प्रकार की माया में मुग्ध होने की सम्भावना है, उनसे दूर रहना ही हम लोगों के लिए अच्छा है।"

मैंने कहा, "आप कभी भी मुग्ध होनेवाले नहीं हैं।" अन्त में मेरा अतिशय आग्रह देखकर और भी दो-चार दिन ठहरना उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस बीच मेरे मन में हुआ, यदि स्वामीजी सर्वसाधारण के लिए व्याख्यान दें, तो हम लोग भी उनका व्याख्यान सुनेंगे और दूसरों का भी कल्याण होगा। मैंने इसके लिए बहुत अनुरोध किया; किन्तु व्याख्यान देने पर सम्भवतः नाम-यश की स्पृहा जग उठे, ऐसा कहकर उन्होंने मेरे अनुरोध को किसी भी तरह नहीं माना। पर उन्होंने यह भी बात मुझे बताई कि उन्हें सभा में प्रश्नों का उत्तर देने में कोई आपत्ति नहीं है।

एक दिन बातचीत के सिलसिले में स्वामीजी Pickwick ... के दो-तीन पृष्ठ कण्ठस्थ बोल गए। मैंने उस पुस्तक ... बार पढ़ा है। समझ गया—उन्होंने पुस्तक के किस स्थान

से आवृत्ति की है। सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। सोचने लगा — सन्यासी होकर सामाजिक ग्रन्थ में से इन्होंने इतना कैसे कण्ठस्थ किया? हो न हो, इन्होंने पहले इस पुस्तक को अनेक बार पढ़ा है। पूछने पर उन्होंने कहा, "दो बार पढ़ा है। एक बार स्कूल में पढ़ने के समय, और दूसरी बार आज से पाँच-छ: मास पहले।"

अवाक् होकर मैंने पूछा, "फिर आपको किस प्रकार यह स्मरण रहा? और हम लोगों को क्यों नहीं रहता?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "एकाग्र मन से पढ़ना चाहिए, और खाद्य के सार भाग द्वारा निर्मित वीर्य का नाश न करके उसका अधिकाधिक परिपचन (assimilation) कर लेना चाहिए।"

और एक दिन की बात है। स्वामीजी दोपहर में बिछौने पर लेटे हुए एक पुस्तक पढ़ रहे थे। मैं दूसरे कमरे में था। एकाएक स्वामीजी इतने जोर से हँस पड़े कि क्या हो गया सोचकर मैं उनके कमरे के दरवाजे के पास आकर खड़ा हो गया। देखा, बात कोई विशेष नहीं है। वे जैसे पुस्तक पढ़ रहे थे, वैसे ही पढ़ रहे हैं। लगभग पन्द्रह मिनट खड़ा रहा, तो भी उनका ध्यान मेरी ओर नहीं गया। पुस्तक छोड़कर उनका ध्यान किसी दूसरी ओर नहीं था। कुछ देर बाद मुझे देखकर अन्दर आने के लिए कहा, और मैं इतनी देर से खड़ा हूँ यह सुनकर बोले, "जब जो काम करना हो, तब उसे पूरी लगन और शक्ति के साथ करना चाहिए। गाजीपुर के पवहारी बाबा ध्यान, जप, पूजा, पाठ जिस प्रकार एकचित्त से करते थे, उसी प्रकार वे अपने पीतल के लोटे को भी एकचित्त से माँजते थे। ऐसा माँजते थे कि सोने के समान चमकने लगता था।"

एक बार मैंने स्वामीजी से पूछा, "स्वामीजी, चोरी करना पाप क्यों है? सभी धर्म चोरी करने का निषेध क्यों करते हैं? मेरे विचार में तो 'यह मेरा है', 'यह दूसरे का'—ये सब भावनाएँ केवल कल्पना मात्र हैं। मुझसे बिना पूछे ही जब कोई मेरा आत्मीय बन्धु मेरी किसी वस्तु का व्यवहार करता है, तो वह चोरी क्यों नहीं कहलाती? और पशु-पक्षी आदि जब हमारी कोई वस्तु नष्ट कर देते हैं, तो हम उसे चोरी क्यों नहीं कहते?"

स्वामीजी ने कहा, "हाँ, ऐसी कोई वस्तु या कार्य नहीं है, जो सभी अवस्था में और सभी समय बुरा और पाप कहा जा सके। फिर दूसरी ओर, अवस्था-भेद से प्रत्येक वस्तु ही बुरी और प्रत्येक कार्य ही पाप कहा जा सकता है। फिर भी, जिससे दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट हो एवं जिसके आचरण से शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक किसी प्रकार की दुर्बलता आए, उस कर्म को नहीं करना चाहिए; वह पाप है, और उसके विपरीत कर्म ही पुण्य है। सोचो, तुम्हारी कोई वस्तु किसी ने चुरा ली, तो तुम्हें दुःख होगा या नहीं? तुम्हें जैसा होता है, वैसा ही सम्पूर्ण जगत् के बारे में भी समझो। इस दो दिन की दुनिया में जब किसी छोटी वस्तु के लिए तुम एक प्राणी को दुःख दे सकते हो, तो धीरे-धीरे भविष्य में क्या बुरा काम नहीं कर सकोगे? फिर, यदि पाप-पुण्य न रहे, तो समाज ही न चले। समाज में रहने पर उसके नियम आदि पालन करने पड़ते हैं। वन में जाकर नंगे होकर नाचो न—कोई कुछ न कहेगा; किन्तु शहर में इस प्रकार का आचरण करने पर पुलिस द्वारा तुम्हें पकड़वाकर किसी निर्जन स्थान में बन्द रख देना ही उचित होगा।"

स्वामीजी कई बार हास-परिहास के भीतर से विशेष शिक्षा

दिया करते थे। वे गुरु होते हुए भी, उनके पास बैठना मास्टर के पास बैठने के समान नहीं था। अभी खूब रंग-रस चल रहा है; बालक के समान हँसते-हँसते हँसी के बहाने कितनी ही बातें कहे जा रहे हैं, सभी लोगों को हँसा रहे हैं; और दूसरे ही क्षण ऐसे गम्भीर होकर जटिल प्रश्नों की व्याख्या करना आरम्भ कर देते हैं कि उपस्थित सभी लोग अवाक् होकर सोचने लगते हैं, "इनके भीतर इतनी शक्ति! अभी तो देख रहा था कि ये हमारे ही समान एक व्यक्ति हैं!"

लोग सभी समय उनके पास शिक्षा लेने के लिए आते। उनका द्वार सभी समय खुला रहता। दर्शनार्थियों में से अनेक भिन्न-भिन्न उद्देश से भी आते—कोई उनकी परीक्षा लेने के लिए, तो कोई मजेदार बातें सुनने के लिए, कोई इसलिए कि उनके पास आने से बड़े-बड़े धनी लोगों से बातचीत हो सकेगी, और कोई संसार-ताप से जर्जरित होकर उनके पास दो घड़ी शीतल होने एवं ज्ञान और धर्म का लाभ करने के लिए। किन्तु उनकी ऐसी अद्भुत क्षमता थी कि कोई किसी भाव से क्यों न आए, उसे उसी क्षण समझ जाते थे और उसके साथ उसी तरह व्यवहार करते थे। उनकी मर्मभेदी दृष्टि से किसी के लिए बचना या कुछ छिपाकर रखना सम्भव नहीं था। एक समय किसी प्रतिष्ठित धनी का एकमात्र पुत्र विश्व-विद्यालय की परीक्षा से बचने के लिए स्वामीजी के निकट बारम्बार आने लगा और साधु होऊँगा, ऐसा भाव प्रकाशित करने लगा। वह मेरे एक मित्र का पुत्र था। मैंने स्वामीजी से पूछा, "यह लड़का आपके पास किस मतलब से इतना अधिक आता-जाता है? उसे क्या आप संन्यासी होने का उपदेश देंगे? उसका बाप मेरा मित्र है।"

स्वामीजी ने कहा, "वह केवल परीक्षा के भय से साधु होना चाहता है। मैंने उससे कहा है, एम. ए. पास कर चुकने के बाद साधु होने के लिए आना; साधु होने की अपेक्षा एम. ए. पास करना कहीं सरल है।"

स्वामीजी जितने दिन मेरे यहाँ ठहरे, प्रत्येक दिन सन्ध्या समय उनका वार्तालाप सुनने के लिए इतनी अधिक संख्या में लोगों का आगमन होता था, मानो कोई सभा लगी हो। इसी समय एक दिन मेरे निवास-स्थान पर, एक चन्दन के वृक्ष के नीचे तकिए के सहारे बैठकर उन्होंने जो बातें कही थीं, उन्हें आजन्म न भूल सकूँगा। उस प्रसंग को उठाने में बहुतसी बातें कहनी होंगी। इसलिए उसे दूसरे समय के लिए ही रख छोड़ना युक्तिसंगत है। इस समय और एक अपनी बात कहूँगा। कुछ समय पहले से मेरी स्त्री की इच्छा थी कि किसी गुरु से मन्त्र-दीक्षा ले। मुझे उसमें आपत्ति नहीं थी। उस समय मैंने उससे कहा था, "ऐसे व्यक्ति को गुरु बनाना, जिसकी भक्ति मैं भी कर सकूँ। गुरु के घर में प्रवेश करते ही यदि मुझमें अन्यथा भाव हो जाय, तो तुम्हें किसी प्रकार का आनन्द या उपकार नहीं होगा। यदि किसी सत्पुरुष को गुरुरूप में पाऊँगा, तो हम दोनों साथ ही दीक्षा-मन्त्र लेंगे, अन्यथा नहीं।" इस बात को उसने भी स्वीकार किया। स्वामीजी के आगमन के बाद मैंने उससे पूछा, "यदि ये संन्यासी तुम्हारे गुरु हों, तो तुम उनकी शिष्या हो सकती हो?"

वह उत्कण्ठा से बोली, "क्या वे गुरु होंगे? होने से तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगी!"

स्वामीजी से एक दिन डरते-डरते मैंने पूछा, "स्वामीजी, एक प्रार्थना पूर्ण करेंगे?" स्वामीजी ने पूछा, "कहो, क्या

कहना है?" तब मैंने उनसे अनुरोधपूर्वक कहा, "आप हम दोनों को दीक्षा दे।"

वे बोले, "गृहस्थ के लिए गृहस्थ गुरु ही ठीक है। गुरु होना बहुत कठिन है। शिष्य का समस्त भार ग्रहण करना पडता है। दीक्षा के पहले गुरु के साथ शिष्य का कम-से-कम तीन बार साक्षात्कार होना आवश्यक है।" इस प्रकार स्वामीजी ने मुझे टालने की चेष्टा की। जब उन्होंने देखा कि मैं किसी भी तरह माननेवाला नहीं, तो अन्त मे उन्हें स्वीकृति देनी ही पड़ी और २५ अक्टूबर, १८९२ ई० को उन्होंने हम दोनों को दीक्षा दी। इस समय मेरी प्रबल इच्छा हुई कि स्वामीजी का फोटो उतरवाऊँ। परन्तु इसके लिए वे जल्दी राजी नहीं हुए। अन्त में बहुत वाद-विवाद के बाद, मेरा अत्यन्त आग्रह देखकर २८ तारीख को फोटो खिचवाने के लिए सम्मत हुए, और फोटो खीचा गया। इसके पहले एक व्यक्ति के अतिशय आग्रह पर भी स्वामीजी ने फोटो नहीं खिचवाया था, इसलिए फोटो की दो प्रतियाँ उस व्यक्ति को भी भेज देने के लिए उन्होंने मुझसे कहा। मैंने स्वामीजी की इस आज्ञा को बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया। एक दिन बातचीत के सिलसिले मे स्वामीजी ने कहा, "कुछ दिन तुम्हारे साथ जंगल मे तम्बू डालकर रहने की मेरी इच्छा है। किन्तु शिकागो में धर्मसम्मेलन होगा, यदि वहाँ जाने की सुविधा हुई, तो वहीं जाऊँगा।" मैंने चन्दे की सूची तैयार कर धन-संग्रह करने का प्रस्ताव किया, परन्तु उन्होंने न जाने क्या सोचकर उसे स्वीकार नहीं किया। स्वामीजी का इस समय व्रत ही था—रुपए-पैसे का स्पर्श या ग्रहण न करना। मेरे अत्यधिक अनुरोध करने पर स्वामीजी मरहठी चप्पल के बदले एक जोड़ा जूता और बेत

की एक छड़ी स्वीकार करने में राजी हुए। इसके पहले कोल्हापुर की रानी ने स्वामीजी से बहुत अनुरोध किया था कि वे कुछ ग्रहण करें; पर स्वामीजी इसमें सहमत नहीं हुए थे। अन्त में रानी ने दो गेरुए वस्त्र स्वामीजी के लिए भेजे; स्वामीजी ने यह ग्रहण कर लिया, और पुराने वस्त्र वहीं छोड़ते हुए बोले, "संन्यासियों को जितना कम बोझा हो, उतना ही अच्छा।"

इसके पहले मैंने भगवद्गीता पढ़ने की अनेक बार चेष्टा की थी; किन्तु समझ न सकने के कारण मैंने ऐसा सोच लिया कि उसमें समझने के लायक ऐसी कोई बड़ी बात नहीं है, और उसे पढ़ना ही छोड़ दिया। स्वामीजी एक दिन गीता लेकर हम लोगों को समझाने लगे। तब ज्ञात हुआ कि गीता कैसा अद्भुत ग्रन्थ है! गीता का मर्म समझना जिस प्रकार मैंने उनसे सीखा, उसी प्रकार दूसरी ओर Jules Verne के Scientific Novels एवं Carlyle का Sartor Resartus पढ़ना भी उन्हीं से सीखा।

उस समय स्वास्थ्य के लिए मैं औषधियों का अत्यधिक व्यवहार करता था। इस बात को जानकर वे एक दिन बोले, "जब देखो कि किसी रोग ने अत्यधिक प्रबल होकर शय्याशायी कर दिया है, उठने की शक्ति नहीं रही, तभी औषधि का सेवन करना, अन्यथा नहीं। स्नायुओं की दुर्बलता (Nervous Debility) आदि रोगों में से तो ९० प्रतिशत काल्पनिक हैं। इन सब रोगों से डाक्टर लोग जितने लोगों को बचाते हैं, उससे अधिक को तो मार डालते हैं। फिर इस प्रकार सर्वदा रोग-रोग करते रहने से क्या होगा? जितने दिन जियो, आनन्द से रहो। पर जिस आनन्द से एक बार कष्ट हो चुका है, उसके पीछे फिर और कभी न दौड़ना। तुम्हारे हमारे समान एक के मर जाने से पृथ्वी अपने

केन्द्र से कोई दूर तो हट न जायगी, और न जगत् का किसी तरह कोई नुकसान ही होगा।"

इस समय कुछ कारणों से अपने ऊपर के अफसरों के साथ मेरा बनता नहीं था। उनके सामान्य कुछ कहने से ही मेरा सिर गरम हो जाता था, और इस प्रकार इस सुन्दर नौकरी से भी मैं एक दिन के लिए भी सुखी न हुआ। स्वामीजी से मैंने जब ये सब बातें कही, तो वे बोले, "नौकरी किसलिए करते हो? वेतन के लिए ही न? वेतन तो ठीक महीने-के-महीने नियमित रूप से पाते ही रहते हो, फिर मन में दुःख क्यों? और यदि नौकरी छोड़ देने की इच्छा हो, तो कभी भी छोड़ दे सकते हो, किसी ने तुम्हें बाँधकर तो रखा नहीं है, फिर 'विषम बन्धन में पड़ा हूँ' सोचकर इस दुःखभरे संसार में और भी दुःख क्यों बढ़ाते हो? और एक बात जरा सोचो, जिस लिए तुम वेतन पाते हो, आफिस के उन सब कामों को करने के अतिरिक्त तुमने अपने ऊपरवाले साहबों को सन्तुष्ट करने के लिए कभी कुछ किया भी है? कभी तो तुमने उसके लिए चेष्टा नहीं की, फिर भी वे लोग तुम पर सन्तुष्ट नहीं हैं ऐसा सोचकर उनके ऊपर खीझे हुए हो! क्या यह बुद्धिमानों का काम है? यह जान लो, हम लोग दूसरों के प्रति हृदय में जैसा भाव रखते हैं, वही कार्य में प्रकाशित होता है; और प्रकाशित न होने पर भी उन लोगों के भी भीतर हमारे प्रति ठीक उसी भाव का उदय होता है। हम अपने मन के अनुरूप ही जगत् को देखते हैं—हमारे भीतर जैसा है, वैसा ही जगत् में प्रकाशित देखते हैं। 'आप भले तो जग भला'—यह उक्ति कितनी सत्य है, कोई नहीं समझता। आज से किसी की बुराई देखना एकदम छोड़ देने की चेष्टा करो। देखोगे, तुम

को एक छड़ी स्वीकार करने में राजी हुए। इसके पहले कोल्हापुर की रानी ने स्वामीजी से बहुत अनुरोध किया था कि वे कुछ ग्रहण करें; पर स्वामीजी इसमें सहमत नहीं हुए थे। अन्त में रानी ने दो गेरुए वस्त्र स्वामीजी के लिए भेजे; स्वामीजी ने यह ग्रहण कर लिया, और पुराने वस्त्र वहीं छोड़ते हुए बोले, "संन्यासियों को जितना कम बोझा हो, उतना ही अच्छा।"

इसके पहले मैंने भगवद्गीता पढ़ने की अनेक बार चेष्टा की थी; किन्तु समझ न सकने के कारण मैंने ऐसा सोच लिया कि उसमें समझने के लायक ऐसी कोई बड़ी बात नहीं है, और उसे पढ़ना ही छोड़ दिया। स्वामीजी एक दिन गीता लेकर हम लोगों को समझाने लगे। तब ज्ञात हुआ कि गीता कैसा अद्भुत ग्रन्थ है! गीता का मर्म समझना जिस प्रकार मैंने उनसे सीखा, उसी प्रकार दूसरी ओर Jules Verne के Scientific Novels एवं Carlyle का Sartor Resartus पढ़ना भी उन्हीं से सीखा।

उस समय स्वास्थ्य के लिए मैं औषधियों का अत्यधिक व्यवहार करता था। इस बात को जानकर वे एक दिन बोले, "जब देखो कि किसी रोग ने अत्यधिक प्रबल होकर शय्याशायी कर दिया है, उठने की शक्ति नहीं रही, तभी औषधि का सेवन करना, अन्यथा नहीं। स्नायुओं की दुर्बलता (Nervous Debility) आदि रोगों में से तो ९० प्रतिशत काल्पनिक हैं। इन सब रोगों से डाक्टर लोग जितने लोगों को बचाते हैं, उससे अधिक को तो मार डालते हैं। फिर इस प्रकार सर्वदा रोग-रोग करते रहने से होगा? जितने दिन जियो, आनन्द से रहो। पर जिस से एक बार कष्ट हो चुका है, उसके पीछे फिर और कभी। तुम्हारे-हमारे समान एक के मर जाने से पृथ्वी अपने

केन्द्र से कोई दूर तो हट न जायगी, और न जगत् का किसी तरह कोई नुकसान ही होगा।"

इस समय कुछ कारणों से अपने ऊपर के अफसरो के साथ मेरा बनता नही था। उनके सामान्य कुछ कहने से ही मेरा सिर गरम हो जाता था, और इस प्रकार इस सुन्दर नौकरी से भी मैं एक दिन के लिए भी सुखी न हुआ। स्वामीजी से मैंने जब ये सब बातें कही, तो वे बोले, "नौकरी किसलिए करते हो? वेतन के लिए ही न? वेतन तो ठीक महीने-के-महीने नियमित रूप से पाते ही रहते हो, फिर मन में दु ख क्यो? और यदि नौकरी छोड देने की इच्छा हो, तो कभी भी छोड दे सकते हो, किसी ने तुम्हें बाँधकर तो रखा नही है, फिर 'विषम बन्धन मे पडा हूँ' सोचकर इस दु:खभरे ससार में और भी दु ख क्यो बढाते हो? और एक बात जरा सोचो, जिस लिए तुम वेतन पाते हो, आफिस के उन सब कामो को करने के अतिरिक्त तुमने अपने ऊपरवाले साहबों को सन्तुष्ट करने के लिए कभी कुछ किया भी है? कभी तो तुमने उसके लिए चेष्टा नही की, फिर भी वे लोग तुम पर सन्तुष्ट नहीं हैं ऐसा सोचकर उनके ऊपर खीझे हुए हो! क्या यह बुद्धिमानो का काम है? यह जान लो, हम लोग दूसरों के प्रति हृदय मे जैसा भाव रखते है, वही कार्य मे प्रकाशित होता है; और प्रकाशित न होने पर भी उन लोगो के भी भीतर हमारे प्रति ठीक उसी भाव का उदय होता है। हम अपने मन के अनुरूप ही जगत् को देखते हैं—हमारे भीतर जैसा है, वैसा ही जगत् मे प्रकाशित देखते है। 'आप भले तो जग भला'— यह उक्ति कितनी सत्य है, कोई नही समझता। आज से किसी की बुराई देखना एकदम छोड देने की चेष्टा करो। देखोगे, तुम

जितना ही वैसा कर सकोगे, उतना ही उनके भीतर का भाव और उनके कार्य तक परिवर्तित हो जायँगे।" बस, उसी दिन से औषधि-सेवन का मेरा पागलपन दूर हो गया, और दूसरों के दोष ढूँढ़ने की चेष्टा को त्याग देने के फलस्वरूप क्रमशः मेरे जीवन का एक नया पृष्ठ खुल गया।

एक बार स्वामीजी के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया गया—"अच्छा क्या है और बुरा क्या है ?" इस पर वे बोले, "जो अभीष्ट कार्य का साधन-भूत है, वही अच्छा है और जो उसका प्रतिरोधक है, वही बुरा। अच्छे-बुरे का विचार जगह की ऊँचाई-निचाई के विचार के समान है। तुम जितने ऊपर उठोगे, उतने ही वे दोनों एक होते जायँगे। कहा जाता है, चन्द्रमा में पहाड़ और समतल दोनों हैं; किन्तु हम लोग सब एक देखते हैं; वैसा ही अच्छा-बुरा के सम्बन्ध में भी समझो।" स्वामीजी में यह एक असाधारण शक्ति थी कि कोई चाहे कैसा भी प्रश्न क्यों न पूछे, तुरन्त उनके भीतर से ऐसा सुन्दर और उपयुक्त उत्तर आता था कि मन का सन्देह एकदम दूर हो जाता था।

और एक दिन की बात है--स्वामीजी ने समाचार-पत्र में पढ़ा कि अनाहार के कारण कलकत्ते में एक मनुष्य मर गया। यह समाचार पढ़कर स्वामीजी इतने दुःखी हुए कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। वे बारम्बार कहने लगे, "अब तो देश गया !" कारण पूछने पर बोले, "देखते नहीं, दूसरे देशों में गरीबों की सहायता के लिए 'पूअर-हाउस', 'वर्क-हाउस', 'चैरिटी फंड' आदि संस्थाओं के रहने पर भी प्रतिवर्ष सैकड़ों मनुष्य अनाहार की ज्वाला में समाप्त हो जाते हैं—समाचार-पत्रों में ऐसा देखने में आता है। पर हमारे देश में एक मुट्ठी भिक्षा की प्रथा होने

से अनाहार के कारण लोगों का मरना कभी सुना नहीं गया। मैंने आज पहली बार अखबार में यह समाचार पढ़ा कि दुर्भिक्ष न होते हुए भी कलकत्ता-जैसे शहर में अन्न के बिना मनुष्य मरे।"

अँगरेजी शिक्षा की कृपा से मैं भिखारियों को दो-चार पैसे देना अपव्यय समझता था। सोचता था, इस प्रकार जो-कुछ थोड़ासा दान किया जाता है, उससे उनका कोई उपकार तो होता नहीं, अपितु बिना परिश्रम से पैसा पाकर, उसे शराब-गाँजा आदि में खर्च कर वे और भी अधःपतित हो जाते हैं। लाभ इतना ही है कि दाता का व्यर्थ खर्च कुछ बढ़ जाता है। इसलिए सोचता था, बहुत लोगों को कुछ-कुछ देने की अपेक्षा एक को अधिक देना अच्छा है। स्वामीजी से इस विषय में जब मैंने पूछा, तो वे बोले, "भिखारी के आने पर यदि शक्ति हो, तो कुछ देना ही अच्छा है। दोगे तो केवल दो-एक पैसा, उसके लिए वह किसमें खर्च करेगा, सद्व्यय होगा या अपव्यय, ये सब बातें लेकर माथा-पच्ची करने की क्या आवश्यकता? और यदि सचमुच ही वह उस पैसे को गाँजा में उड़ा देता हो, तो भी उसे देने से समाज का लाभ ही है, नुकसान नहीं। क्योंकि तुम्हारे समान लोग यदि दया करके उसे कुछ न दें, तो वह तुम लोगों के पास से चोरी करके लेगा। वैसा न कर वह जो दो पैसे माँगकर गाँजा पीकर चुप होकर बैठा रहता है, वह क्या तुम लोगों का ही लाभ नहीं है? अतएव इस प्रकार के दान में भी लोगों का उपकार ही है, अपकार नहीं।"

मैंने पहले से ही स्वामीजी को बाल्य-विवाह के बिलकुल विरुद्ध देखा है। वे सदैव सभी को, विशेषतः बालकों को, हिम्मत

त्रकर समाज के इस कलंक के विरोध में खड़े होने के लिए
ा उद्योगी और सन्तुष्टचित्त होने के लिए उपदेश देते थे।
देश के प्रति इस प्रकार अनुराग भी मैंने और किसी में नहीं
ा। स्वामीजी के पाश्चात्य देश से लौटने के बाद जिन लोगों
उनके प्रथम दर्शन किए हैं, वे नहीं जानते कि वहाँ जाने के
वे संन्यास-आश्रम के कठोर नियमों का पालन करते हुए,
चन का स्पर्श तक न करते हुए कितने दिनों तक भारत-
ं के समस्त प्रदेशों में भ्रमण करते रहे। किसी के एक बार
ा कहने पर कि उनके समान शक्तिमान पुरुष के लिए नियम
दि का इतना बन्धन आवश्यक नहीं है, वे बोले, "देखो, मन
ड़ा पागल है, बड़ा उन्मत्त है, कभी भी शान्त नहीं रहता; थोड़ा
का पाते ही अपने रास्ते खींच ले जाता है। इसलिए सभी को
र्धारित नियमों के भीतर रहना आवश्यक है। संन्यासी को भी
ा पर अधिकार रखने के लिए नियम के अनुसार चलना पड़ता
। सभी मन में सोचते हैं कि मन के ऊपर उनका पूरा अधिकार
वे तो जान-बूझकर कभी-कभी मन को थोड़ी छूट दे देते हैं।
न्तु मन पर किसका कितना अधिकार हुआ है, वह एक बार
ान करने के लिए बैठते ही मालूम हो जाता है। 'एक विषय
र चिन्तन करूँगा' ऐसा सोचकर बैठने पर दस मिनट भी उस
ाषय में मन स्थिर रखना असम्भव हो जाता है। सभी सोचते
कि वे पत्नी के वशीभूत नहीं हैं; वे तो केवल प्रेम के कारण
त्नी को अपने ऊपर आधिपत्य करने देते हैं। मन को वशीभूत
र लिया है—यह सोचना भी ठीक उसी तरह है। मन पर
श्वास करके कभी निश्चिन्त न रहना।"

एक दिन बातचीत के सिलसिले में मैंने कहा, "स्वामीजी,

देखता हूँ, धर्म को ठीक-ठीक समझने के लिए बहुत अध्ययन की आवश्यकता है।"

वे बोले, "अपने तई धर्म समझने के लिए अध्ययन की आवश्यकता नहीं; किन्तु दूसरों को समझाने के लिए उसकी विशेष आवश्यकता है। परमहंस रामकृष्ण देव तो 'रामकेष्ट' नाम से हस्ताक्षर करते थे, किन्तु धर्म का सार तत्त्व उनसे अधिक भला किसने समझा है?"

मेरा विश्वास था, साधु-संन्यासियों का स्थूलकाय और सर्वदा सन्तुष्टचित्त होना असम्भव है। एक दिन हँसते-हँसते उनके ऊपर ऐसा कटाक्ष करने पर उन्होंने भी मजाक में कहा, "यही तो मेरा 'अकाल रक्षाकोष' (फैमिन इन्श्योरेन्स फंड) है। यदि मैं पाँच-सात दिन तक भोजन न पाऊँ, तो भी मेरी चर्बी मुझे जीवित रखेगी। तुम लोग तो एक दिन न खाने से ही चारों ओर अन्धकार देखने लगोगे। जो धर्म मनुष्य को सुखी नहीं बनाता, वह वास्तविक धर्म है ही नहीं; उसे मन्दाग्निप्रसूत रोगविशेष समझो।" स्वामीजी संगीत-विद्या के विशेष पारदर्शी थे। एक दिन एक गाना भी उन्होंने प्रारम्भ किया था, किन्तु मैं तो 'संगीत में औरंगजेब' था; फिर मुझे सुनने का अवसर ही कहाँ? उनके वार्तालाप ने ही हम लोगों को मोहित कर लिया था।

आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के सभी विभाग, जैसे—रसायनशास्त्र (Chemistry), भौतिकशास्त्र (Physics), भूगर्भशास्त्र (Geology), ज्योतिषशास्त्र (Astronomy), मिश्रित गणित (Mixed mathematics) आदि पर उनका विशेष अधिकार था एवं उन विषयों से सम्बद्ध सभी प्रश्नों को वे बड़ी सरल भाषा

में दो-चार बातों में ही समझा देते थे। फिर, पाश्चात्य विज्ञान की सहायता एवं दृष्टान्त से धर्मविषयक तथ्यों को विशद रूप से समझाने तथा यह दिखाने में कि धर्म और विज्ञान का एक ही लक्ष्य है, एक ही दिशा में गति है — उनकी क्षमता अद्वितीय थी।

लाल मिर्च, गोल मिर्च आदि तीखे पदार्थ उन्हें बड़े प्रिय थे। इसका कारण पूछने पर उन्होंने एक दिन कहा, "पर्यटन-काल में संन्यासियों को देश-विदेश में अनेक प्रकार का दूषित जल पीना पड़ता है; यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। इस दोष को दूर करने के लिए उनमें से बहुतसे गाँजा, चरस आदि मादक द्रव्य पीते हैं। मैं भी इसी लिए इतनी मिर्च खाता हूँ।"

खेतड़ी के राजा, कोल्हापुर के छत्रपति एवं दक्षिण के अनेक राजा उन पर विशेष भक्ति करते थे। उनका भी उन लोगों पर बड़ा प्रेम था। असाधारण त्यागी होकर, राजा-रजवाड़ों के साथ इतनी घनिष्ठता वे क्यों रखते हैं, यह बात बहुतों की समझ में नहीं आती थी। कोई-कोई निर्बोध तो इस बात को लेकर उनके ऊपर आक्षेप करने में भी नहीं चूकते थे।

इसका कारण पूछने पर एक दिन उन्होंने कहा, "जरा सोच तो देखो, हजार-हजार दरिद्र लोगों को उपदेश देने और सत्कार्य के अनुष्ठान में तत्पर कराने से जो कार्य होगा, उसकी अपेक्षा एक राजा को उस दिशा में ला सकने पर कितना अधिक कार्य हो जायगा। निर्धन प्रजा के इच्छा करने पर भी सत्कार्य करने की क्षमता उसके पास कहाँ? किन्तु राजा के हाथ में ों प्रजाजन के मंगल-विधान की क्षमता पहले से ही है, केवल ने की इच्छा भर नहीं है। वह इच्छा यदि उसके भीतर प्रकार जागरित कर सकूँ, तो ऐसा होने पर उसके

साथ-साथ उसके अधीन सारी प्रजा की अवस्था बदल सकती है, और इस प्रकार जगत् का कितना अधिक कल्याण हो सक्ता है।"

धर्म वाग्वितण्डा में नहीं धरा है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, इसको समझाने के लिए वे बात-बात में कहा करते थे, "गुड़ का स्वाद खाने में ही है। अनुभव करो, बिना अनुभव किए कुछ भी न समझोगे।" उन्हे ढोगी संन्यासियो से अत्यन्त चिढ़ थी। वे कहते थे, "घर में रहकर मन पर अधिकार स्थापित करके फिर बाहर निकलना अच्छा है; नही तो नव अनुराग कम होने पर ऐसे संन्यासी प्रायः गाँजाखोर संन्यासियों के दल में मिल जाते हैं।"

मैंने कहा, "किन्तु घर में रहकर वैसा होना तो अत्यन्त कठिन है। सभी प्राणियो को समान दृष्टि से देखना, राग-द्वेष का त्याग करना आदि जिन बातो को आप धर्मलाभ में प्रधान सहायक कहते हैं, उनका अनुष्ठान करना यदि मैं आज से ही प्रारम्भ कर दूँ, तो कल से ही मेरे नौकर-चाकर और अधीनस्थ कर्मचारीगण, यहाँ तक कि सगे-सम्बन्धी लोग भी, मुझे एक क्षण भी शान्ति से न रहने देंगे।"

उत्तर में परमहंस श्रीरामकृष्ण देव की सर्प और संन्यासी वाली कथा का दृष्टान्त देकर उन्होने कहा, "फुफकारना कभी बन्द मत करना, और कर्तव्य-पालन करने की बुद्धि से सभी काम किए जाना। कोई अपराध करे, तो दण्ड देना; किन्तु दण्ड देते समय कभी भी क्रुद्ध न होना।" फिर पूर्वोक्त प्रसग को उठाकर बोले, "एक समय में एक तीर्थस्थान के पुलिस इन्सपेक्टर का अतिथि हुआ। वह बड़ा धार्मिक और श्रद्धालु था। उसका वेतन १२५ रु. था; किन्तु देखा, उसके घर का खर्च मासिक दो-तीन सौ का

रहा होगा। जब अधिक परिचय हुआ, तो मैंने पूछा, 'आय की अपेक्षा आपका खर्च तो अधिक देख रहा हूँ—यह कैसे चलता है?' वह थोड़ा हँसकर बोला, 'आप ही लोग चलाते हैं। इस तीर्थस्थल में जो साधु-संन्यासी आते हैं, वे सब आपके समान तो नहीं होते। सन्देह होने पर उनके पास क्या है, क्या नहीं, इसकी तलाश करता हूँ। बहुतों के पास प्रचुर मात्रा में रुपया-पैसा निकलता है। जिन पर मुझे चोरी का सन्देह होता है, वे रुपया-पैसा छोड़कर भग जाते हैं, और मैं उन पैसों को अपने कब्जे में कर लेता हूँ। पर अन्य किसी प्रकार की घूस आदि नहीं लेता।"

स्वामीजी के साथ एक दिन अनन्त (Infinity) पदार्थ के सम्बन्ध में कथा-वार्ता हुई। उन्होंने जो बात कही, वह बड़ी ही सुन्दर एवं सत्य है। वे बोले, "दो अनन्त पदार्थ कभी नहीं रह सकते।" पर मैंने कहा, "काल तो अनन्त है और देश भी अनन्त है।" इस पर वे बोले, "देश अनन्त है यह तो समझा, किन्तु काल अनन्त है यह नहीं समझा। जो भी हो, एक पदार्थ अनन्त है, यह बात समझ में आती है, किन्तु दो पदार्थ यदि अनन्त हों, तो कौन कहाँ रहेगा? कुछ और आगे बढ़ो, तो देखोगे, काल जो है, देश भी वही है; फिर और अग्रसर होने पर समझोगे, सभी पदार्थ अनन्त हैं, और वे सभी अनन्त पदार्थ एक हैं, दो या दस नहीं।"

इस प्रकार स्वामीजी के पदार्पण से २६ अक्टूबर तक मेरे निवास-स्थान पर आनन्द का स्रोत बहता रहा। २७ तारीख को बोले, "और नहीं ठहरूँगा; रामेश्वर जाने के विचार से बहुत दिन हुए इस ओर निकला हूँ। पर यदि इसी प्रकार चला, तो इस जन्म में शायद रामेश्वर पहुँचना न हो सकेगा।" मैं बहुत

अनुरोध करके भी उन्हें नही रोक सका। २७ अक्टूबर की 'मेल' से उनका मरमागोआ जाना ठहरा। इस थोड़े से समय में उन्होंने कितने लोगों को मुग्ध कर लिया था यह कहा नही जा सकता। टिकट खरीदकर उन्हे गाड़ी में बिठाया और साष्टांग प्रणाम कर मैंने कहा, "स्वामीजी, मैंने जीवन में आज तक किसी को भी आन्तरिक भक्ति के साथ प्रणाम नही किया। आज आपको प्रणाम कर मैं कृतार्थ हो गया।"

* * * *

स्वामीजी को मैंने केवल तीन बार देखा। प्रथम, उनके अमेरिका जाने से पूर्व। उस समय की बहुतसी बातें आप लोगों को सुना चुका हूँ। वेलगांव में उनके साथ मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ। द्वितीय, जब उन्होने दूसरी बार विलायत और अमेरिका की यात्रा की थी, उसके कुछ दिन पहले। तृतीय एवं अन्तिम बार दर्शन हुआ उनके देहत्याग के छः-सात मास पहले। पर इतने ही अवसरों पर मैंने उनसे जो कुछ सीखा, उसका आद्योपान्त वर्णन करना असम्भव है। बहुतसी बाते मेरे अपने सम्बन्ध की हैं, इसलिए उन्हे कहने की आवश्यकता नही, और बहुतसी बातों को भूल भी गया हूँ। जो कुछ स्मरण है, उसमें से पाठको के लिए उपयोगी विषयो को बतलाने की चेष्टा करूँगा।

विलायत से लौट आने के बाद उन्होंने हिन्दुओं के जाति-विचार के सम्बन्ध में और किसी-किसी सम्प्रदाय के व्यवहार के ऊपर तीव्र आलोचना करते हुए मद्रास में जो व्याख्यान दिए थे, उन्हे पढ़कर मैंने सोचा, स्वामीजी की भाषा कुछ अधिक कड़ी हो गई है। और उनके समीप मैंने अपने इस अभिप्राय को प्रकट भी ~ वे बोले, "जो कुछ मैंने कहा है, सब सत्य कहा

रहा होगा। जब अधिक परिचय हुआ, तो मैंने पूछा, 'आय की अपेक्षा आपका खर्च तो अधिक देख रहा हूँ — यह कैसे चलता है?' वह थोड़ा हँसकर बोला, 'आप ही लोग चलाते हैं। इस तीर्थस्थल में जो साधु-संन्यासी आते हैं, वे सब आपके समान तो नहीं होते। सन्देह होने पर उनके पास क्या है, क्या नहीं, इसकी तलाश करता हूँ। बहुतों के पास प्रचुर मात्रा में रुपया-पैसा निकलता है। जिन पर मुझे चोरी का सन्देह होता है, वे रुपया-पैसा छोड़कर भग जाते हैं, और मैं उन पैसों को अपने कब्जे में कर लेता हूँ। पर अन्य किसी प्रकार की घूस आदि नहीं लेता।"

स्वामीजी के साथ एक दिन अनन्त (Infinity) पदार्थ के सम्बन्ध में कथा-वार्ता हुई। उन्होंने जो बात कही, वह बड़ी ही सुन्दर एव सत्य है। वे बोले, "दो अनन्त पदार्थ कभी नहीं रह सकते।" पर मैंने कहा, "काल तो अनन्त है और देश भी अनन्त है।" इस पर वे बोले, "देश अनन्त है यह तो समझा, किन्तु काल अनन्त है यह नहीं समझा। जो भी हो, एक पदार्थ अनन्त है, यह बात समझ में आती है, किन्तु दो पदार्थ यदि अनन्त हों, तो कौन कहाँ रहेगा? कुछ और आगे बढ़ो, तो देखोगे, काल जो है, देश भी वही है; फिर और अग्रसर होने पर समझोगे, सभी पदार्थ अनन्त हैं, और वे सभी अनन्त पदार्थ एक हैं, दो या दस नहीं।"

इस प्रकार स्वामीजी के पदार्पण से २६ अक्टूबर तक मेरे निवास-स्थान पर आनन्द का स्रोत बहता रहा। २७ तारीख वे बोले, "और नहीं ठहरूँगा; रामेश्वर जाने के दिन हुए इस ओर निकला हूँ। पर यदि इसी इस जन्म में शायद रामेश्वर पहुँचना न

अनुरोध करके भी उन्हें नही रोक सका। २७ अक्टूबर की 'मेल' से उनका मरमागोआ जाना ठहरा। इस थोड़े से समय में उन्होने कितने लोगों को मुग्ध कर लिया था यह कहा नही जा सकता। टिकट खरीदकर उन्हे गाड़ी में बिठाया और साष्टांग प्रणाम कर मैंने कहा, "स्वामीजी, मैंने जीवन में आज तक किसी को भी आन्तरिक भक्ति के साथ प्रणाम नही किया। आज आपको प्रणाम कर मै कृतार्थ हो गया।"

* * * *

स्वामीजी को मैंने केवल तीन बार देखा। प्रथम, उनके अमेरिका जाने से पूर्व। उस समय की बहुतसी बातें आप लोगों को सुना चुका हूँ। बेलगांव में उनके साथ मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ। द्वितीय, जब उन्होंने दूसरी बार विलायत और अमेरिका की यात्रा की थी, उसके कुछ दिन पहले। तृतीय एव अन्तिम बार दर्शन हुआ उनके देहत्याग के छ-सात मास पहले। पर इतने ही अवसरो पर मैंने उनसे जो कुछ सीखा, उसका आद्योपान्त वर्णन करना असम्भव है। बहुतसी बाते मेरे अपने सम्बन्ध की है, इसलिए उन्हे कहने की आवश्यकता नही, और बहुतसी बातो को भूल भी गया हूँ। जो कुछ स्मरण है, उसमें से पाठको के लिए उपयोगी विषयों को बतलाने की चेष्टा करूँगा।

विलायत से लौट आने के बाद उन्होंने हिन्दुओं के जाति-विचार के सम्बन्ध में और किसी-किसी सम्प्रदाय के व्यवहार के ऊपर तीव्र आलोचना करते हुए मद्रास [illegible]
पढ़कर मैंने सोचा, [illegible]
है। औ[illegible]

रहा होगा। जब अधिक परिचय हुआ, तो मैंने पूछा, 'आय की अपेक्षा आपका खर्च तो अधिक देख रहा हूँ—यह कैसे चलता है?' वह थोड़ा हँसकर बोला, 'आप ही लोग चलाते हैं। इस तीर्थस्थल में जो साधु-संन्यासी आते हैं, वे सब आपके समान तो नहीं होते। सन्देह होने पर उनके पास क्या है, क्या नहीं, इसकी तलाश करता हूँ। बहुतों के पास प्रचुर मात्रा में रुपया-पैसा निकलता है। जिन पर मुझे चोरी का सन्देह होता है, वे रुपया-पैसा छोड़कर भग जाते है, और मैं उन पैसों को अपने कब्जे में कर लेता हूँ। पर अन्य किसी प्रकार की घूस आदि नहीं लेता।"

स्वामीजी के साथ एक दिन अनन्त (Infinity) पदार्थ के सम्बन्ध में कथा-वार्ता हुई। उन्होंने जो बात कही, वह बड़ी ही सुन्दर एवं सत्य है। वे बोले, "दो अनन्त पदार्थ कभी नहीं रह सकते।" पर मैंने कहा, "काल तो अनन्त है और देश भी अनन्त है।" इस पर वे बोले, "देश अनन्त है यह तो समझा, किन्तु काल अनन्त है यह नहीं समझा। जो भी हो, एक पदार्थ अनन्त है, यह बात समझ में आती है, किन्तु दो पदार्थ यदि अनन्त हों, तो कौन कहाँ रहेगा? कुछ और आगे बढ़ो, तो देखोगे, काल जो है, देश भी वही है; फिर और अग्रसर होने पर समझोगे, सभी पदार्थ अनन्त हैं, और वे सभी अनन्त पदार्थ एक हैं, दो या दस नहीं।"

इस प्रकार स्वामीजी के पदार्पण से २६ अक्टूबर तक मेरे निवास-स्थान पर आनन्द का स्रोत बहता रहा। २७ तारीख को वे बोले, "और नहीं ठहरूँगा; रामेश्वर जाने के विचार से बहुत दिन हुए इस ओर निकला हूँ। पर यदि इसी प्रकार चला, तो इस जन्म में शायद रामेश्वर पहुँचना न हो सकेगा।" मैं बहुत

स्वामीजी कहा करते थे, "देश, काल और पात्र के भेद से मानसिक भावों और अनुभवों में काफी तारतम्य हुआ करता है। धर्म के सम्बन्ध में भी ठीक वैसा ही है। प्रत्येक मनुष्य की भी एक-न-एक विषय में अधिक रुचि पाई जाती है। जगत् में सभी अपने को अधिक बुद्धिमान समझते हैं। ठीक है, वहाँ तक कोई विशेष हानि नहीं। किन्तु जब मनुष्य सोचने लगता है कि केवल मैं ही समझता हूँ, दूसरा कोई नहीं, तभी सारे बखेड़े उपस्थित हो जाते हैं। सभी चाहते हैं कि दूसरे सब लोग भी उन्हीं के समान प्रत्येक वस्तु को देखें और समझें। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि उसने जिस बात को सत्य समझा है या जिसे जाना है, उसे छोड़कर और कोई सत्य हो ही नहीं सकता। सासारिक विषय के क्षेत्र में हो अथवा धर्म के क्षेत्र मे, इस प्रकार के भाव को मन में किसी तरह न आने देना चाहिए।

"जगत् के किसी भी विषय मे सब पर एक ही नियम लागू नहीं हो सकता। देश, काल और पात्र के भेद से नीति एवं सौन्दर्य-ज्ञान भी विभिन्न देखा जाता है। तिब्बत की स्त्रियों में बहु-पति की प्रथा प्रचलित है। हिमालय-भ्रमणकाल मे मेरी इस प्रकार के एक तिब्बती परिवार से भेंट हुई थी। इस परिवार मे छः पुरुष थे, उन छः पुरुषों की एक ही स्त्री थी। अधिक परिचय हो जाने के बाद मैंने एक दिन उनकी इस कुप्रथा के बारे मे कुछ कहा, इस पर वे कुछ खीझकर बोले, 'तुम साधु-सन्यासी होकर लोगों को स्वार्थपरता सिखाना चाहते हो? यह मेरी ही उपभोग्य है, दूसरे की नहीं, इस प्रकार का भाव क्या अन्याय नहीं है?' मैं तो सुनकर दंग रह गया!

"नाक और पैर की लघुता लेकर ही चीन में सौन्दर्य का

है। और जिनके सम्बन्ध में मैंने इस प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है, उनके कार्यों की तुलना में वह बिन्दु मात्र भी कड़ी नहीं है। सत्य बात में संकोच का या उसे छिपाने का तो मैं कोई कारण नहीं देखता। यह न सोचना कि जिनके कार्यों पर मैंने इस प्रकार समालोचना की है, उनके ऊपर मेरा क्रोध था या है, अथवा जैसा कोई-कोई सोचते हैं कि कर्तव्य समझकर जो कुछ मैंने किया है, उसके लिए अब मैं दुःखित हूँ। इन सब बातों में कोई सार नही। न मैंने क्रोध के कारण ऐसा किया है, और न जो किया है उसका दुःख ही है। आज भी यदि उस प्रकार का कोई अप्रिय कार्य करना कर्तव्य मालूम होगा, तो अवश्य निःसंकोच वैसा करूँगा।"

ढोंगी संन्यासियों के विषय में उनका मत पहले कुछ कह आया हूँ। किसी दूसरे दिन इस सम्बन्ध में प्रसंग उठने पर उन्होंने कहा, "हाँ, अवश्य बहुत से बदमाश वारण्ट के डर से अथवा घोर दुष्कर्म करके छिपने के लिए संन्यासी के वेष में घूमते-फिरते हैं; किन्तु तुम लोगों का भी कुछ दोष है। तुम लोग सोचते हो, संन्यासी होते ही उसे ईश्वर के समान त्रिगुणातीत हो जाना चाहिए। उसे पेट भर अच्छी तरह खाने में दोष, बिछौने पर सोने में दोष, यहाँ तक कि उसे जूता और छाता तक व्यवहार में लाने की गुंजाइश नहीं। क्यों, वह भी तो मनुष्य है। तुम लोगों के मत में जब तक कोई पूर्ण परमहंस न हो जाय, तब तक उसे गेरुआ वस्त्र पहिनने का अधिकार नहीं। पर यह भूल है। एक समय एक सन्यासी के साथ मेरा वार्तालाप हुआ। अच्छी पोशाक पर उनकी खूब रुचि थी। तुम लोग उन्हें देखकर अवश्य ही घोर विलासी समझते। किन्तु वे सचमुच यथार्थ संन्यासी थे।"

अपने मत को अक्षुण्ण रखने में प्रत्येक मनुष्य का एक विशेष आग्रह देखा जाता है। धर्म के क्षेत्र में तो उसका विशेष प्रकाश दिखाई देता है। स्वामीजी इस सम्बन्ध में एक कहानी कहा करते थे। एक समय एक छोटे राज्य को जीतने के लिए एक दूसरे राजा ने दल-बल के साथ चढ़ाई की। शत्रुओं के हाथ से बचाव कैसे हो, इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए उस राज्य में एक बड़ी सभा बुलाई गई। सभा मे इंजीनियर, बढ़ई, चमार, लोहार, वकील, पुरोहित आदि सभी उपस्थित हुए। इंजीनियर ने कहा, 'शहर के चारो ओर एक बहुत बड़ी खाई खुदवाइए।' बढ़ई बोला, 'काठ की एक दीवाल खड़ी कर दी जाय।' चमार बोला, 'चमडे के समान मजबूत और कोई चीज नही है, चमड़े की ही दीवाल खड़ी की जाय।' लोहार बोला, 'इस सबकी कोई आवश्यकता नही है, लोहे की दीवाल सबसे अच्छी होगी; उसे भेदकर गोली या गोला नही आ सकता।' वकील बोले, 'कुछ भी करने की आवश्यकता नही है; हमारा राज्य लेने का शत्रु को कोई अधिकार नही है—यही एक बात शत्रु को तर्क-युक्ति द्वारा समझा दी जाय।' पुरोहित बोले, 'तुम लोग तो पागल-जैसे बकते हो। होम-याग करो, स्वस्त्ययन करो, तुलसी दो, शत्रु कुछ भी नही कर सकता।' इस प्रकार उन्होने राज्य बचाने का कोई उपाय निश्चित करने के बदले अपने-अपने मत का पक्ष लेकर घोर तर्क-वितर्क आरम्भ कर दिया। यही है मनुष्य का स्वभाव !

यह कहानी सुनकर मुझे भी मानव-मन के एकतरफे झुकाव के सम्बन्ध मे एक कथा याद आ गई। स्वामीजी से मैंने कहा, "स्वामीजी, मुझे लड़कपन में पागलों के साथ बातचीत

विचार होता है, यह सभी जानते हैं। आहार आदि के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। अँगरेज हम लोगों के समान खुशबूदार चावल का भात खाना पसन्द नहीं करते। एक समय किसी जगह के एक जज साहब की अन्यत्र बदली हो जाने पर वहाँ के बहुत से वकीलों ने उनके सम्मान के लिए बढ़िया अनाज आदि भेजा। उसमें कुछ सेर खुशबूदार चावल भी थे। जज साहब ने उस चावल का भात खाकर मन में सोचा—यह सड़ा हुआ चावल है, और वकीलों से भेंट होने पर कहा, 'तुम लोगों को मेरे लिए सड़ा चावल भेजना उचित न था।'

"किसी समय मैं रेलगाड़ी में जा रहा था। उसी डब्बे में चार-पाँच साहब भी बैठे थे। बातचीत के सिलसिले में तमाकू के बारे में मैंने कहा, 'सुगन्धित गुड़ाकू का पानी से भरे हुए हुक्के में व्यवहार करना ही तमाकू का श्रेष्ठ उपभोग है।' मेरे पास खूब अच्छा तमाकू था। मैंने उन लोगों को देखने के लिए दिया। वे सूँघकर बोले, 'यह तो अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त है! इसे आप सुगन्धित कहते हैं!' इस प्रकार गन्ध, आस्वाद, सौन्दर्य आदि सभी विषयों में समाज, देश और काल के भेद से भिन्न-भिन्न मत हैं।"

स्वामीजी की पूर्वोक्त कथाओं को हृदयगम करते मुझे देरी नहीं लगी। मैंने सोचा, पहले मुझे शिकार करना कितना प्रिय था; किसी पशु-पक्षी को देखने पर उसे मारने के लिए मन छटपटाने लगता था। न मार सकने पर अत्यन्त कष्ट भी मालूम होता था। पर अब उस प्रकार प्राणियों का वध करना कि
ही अच्छा नहीं लगता। अतएव किसी वस्तु का अ
लगना केवल अभ्यास पर निर्भर है।

को अपने देश की माया छोड़कर, सभी देशों पर समदृष्टि रखकर, सभी देशों की कल्याण-चिन्ता हृदय में रखना अच्छा है। इसके उत्तर में स्वामीजी ने जो ज्वलन्त बातें कहीं, उनको जीवन में कभी नहीं भूल सकता। वे बोले, "जो अपनी माँ को खाना नहीं देता, वह दूसरे की माँ का क्या पालन करेगा?" स्वामीजी यह स्वीकार करते थे कि हमारे प्रचलित धर्म में, आचार-व्यवहार में, सामाजिक प्रथा में अनेक दोष हैं। वे कहते थे, "उन सबों का संशोधन करने की चेष्टा करना हम लोगों का मुख्य कर्तव्य है; किन्तु इसके लिए संवाद-पत्रों में अँगरेजों के समीप उन दोषों को घोषित करने की क्या आवश्यकता है? घर की गलतियों को जो बाहर दिखलाता है, उसके समान गधा और कौन है? गन्दे कपड़े को लोगों की आँखों के सामने नहीं रखना चाहिए।"

ईसाई मिशनरियों के बारे में एक दिन चर्चा हुई। बातचीत के सिलसिले में मैंने कहा कि उन लोगों ने हमारे देश का कितना उपकार किया है और कर रहे हैं। सुनकर वे बोले, "किन्तु अपकार भी तो कोई कम नहीं किया। देशवासियों के मन की श्रद्धा को बिलकुल नष्ट कर देने का अद्भुत प्रबन्ध उन्होंने कर छोड़ा है। श्रद्धा के साथ-साथ मनुष्यत्व का भी नाश हो जाता है। इस बात को क्या कोई समझता है? हमारे देव-देवियों और हमारे धर्म की निन्दा बिना किए वे अपने धर्म की श्रेष्ठता क्यों नहीं दिखा पाते? और एक बात है: जो जिस धर्म-मत का प्रचार करना चाहते हैं, उन्हें उसमें पूर्ण विश्वास होना चाहिए और तदनुरूप कार्य करना चाहिए। अधिकांश मिशनरी बोलते कुछ हैं और करते कुछ। मुझे कपटता से बड़ी चिढ़ है।"

एक दिन उन्होंने धर्म और योग के सम्बन्ध में अत्यन्त

करना बड़ा अच्छा लगता था। एक दिन मैंने एक पाग
खासा बुद्धिमान, थोड़ी-बहुत अँगरेजी भी जानता था; वह
पानी ही चाहता था ! उसके पास एक फूटा लोटा था।
की कोई नई जगह देखते ही, चाहे नाला हो, हौज हो, ब
का पानी पीने लगता था। मैंने उससे इतना पानी पी
कारण पूछा, तो वह बोला, 'Nothing like water, S
(पानी-जैसी दूसरी कोई चीज ही नहीं, महाशय !) मैंने
एक अच्छा लोटा देने की इच्छा प्रकट की, पर वह किसी प्र
राजी नहीं हुआ। कारण पूछने पर बोला, 'यह लोटा फूटा
है, इसी लिए इतने दिनों तक मेरे पास टिका हुआ है। अ
रहता, तो कब का चोरी चला गया होता।'"

स्वामीजी यह कथा सुनकर बोले, "वह तो बड़ा मजे
पागल दिखता है ! ऐसे लोगों को monomaniac (झक्क
कहते हैं। हम सबों में इस प्रकार का कोई आग्रह या झक्की
हुआ करता है। हम लोगों में उसे दबा रखने की क्षमता है
पागल में वह नहीं है। हम लोगों में और पागलों में भ
केवल इतना ही है। रोग, शोक, अहंकार, काम, क्रोध, ईर्ष
या अन्य कोई अत्याचार अथवा अनाचार से दुर्बल होकर, मनु
के अपने इस संयम को खो बैठने से ही सारी गड़बड़ी उत्पन्न ह
जाती है ! मन के आवेग को वह फिर सँभाल नहीं पाता। ह
लोग तब कहते हैं, 'यह पागल हो गया है।' बस इतना ही !"

स्वामीजी को स्वदेश के प्रति अत्यन्त अनुराग था, यह
बात पहले ही बता चुका हूँ। एक दिन इस सम्बन्ध में बातचीत
के प्रसंग में उनसे कहा गया कि संसारी लोगों का अपने-अपने
देश के प्रति अनुराग रखना नित्य कर्तव्य है, परन्तु सन्यासियों

सम्पूर्ण रूप से निश्चिन्त और सुखी रह सके, तो वह भी कुछ बुरा नहीं है। किन्तु आज तक तो इस प्रकार का मनुष्य देखा नहीं गया। साधारणतः देखा यही जाता है कि जो इन्द्रिय-चरितार्थता को ही सुख समझते हैं, वे धनवान एवं विलासी लोगों को अपने से अधिक सुखी समझकर उनसे द्वेष करने लगते हैं और बहुत व्यय से प्राप्त होनेवाले उनके उच्च श्रेणी के इन्द्रिय-भोग्य पदार्थों को देखकर, उन्हें पाने के लिए लालायित होकर दुःखी हो जाते हैं। सम्राट् सिकन्दर समस्त पृथ्वी को जीतकर, यही सोचकर दुःखी हुए थे कि अब पृथ्वी में जीतने को और कोई देश नहीं रह गया। इसी लिए बुद्धिमान मनीषियों ने बहुत देख-सुनकर, सोच-विचारकर अन्त में सिद्धान्त स्थिर किया है कि किसी एक धर्म में यदि पूर्ण विश्वास हो, तभी मनुष्य निश्चिन्त और यथार्थ सुखी हो सकता है।

"विद्या, बुद्धि आदि सभी विषयों में प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव पृथक्-पृथक् देखा जाता है। इसी कारण उनके उपयुक्त धर्म का भी भिन्न-भिन्न होना आवश्यक है, अन्यथा वह किसी भी तरह उनके लिए सन्तोषप्रद न होगा, वे किसी भी तरह उसका अनुष्ठान करके यथार्थ सुखी नहीं हो सकेंगे। अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल धर्ममत को, स्वयं ही देख-भालकर, सोच-विचारकर चुन लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं। धर्मग्रन्थ का पाठ, गुरु का उपदेश, साधु-दर्शन, सत्पुरुषों का संग आदि उसे इस मार्ग में केवल सहायता मात्र देते हैं।

"कर्म के सम्बन्ध में भी यह जान लेना आवश्यक है कि किसी-न-किसी प्रकार का कर्म किए बिना कोई भी रह

सुन्दर ढंग से बहुतसी बाते कहीं। उनका मर्म जहाँ तक स्मरण है, उद्धृत कर रहा हूँ:—

"समस्त प्राणी सतत सुखी होने की चेष्टा में रत रहते हैं; किन्तु बहुत ही थोड़े लोग सुखी हो पाते हैं। काम-धाम भी सभी सतत करते रहते हैं, किन्तु उसका ईप्सित फल पाना प्रायः देखा नहीं जाता। इस प्रकार विपरीत फल उपस्थित होने का कारण क्या है, वह भी समझने की कोई चेष्टा करता नहीं। इसी लिए मनुष्य दुःख पाता है। धर्म के सम्बन्ध में कैसा भी विश्वास क्यों न हो, यदि कोई उस विश्वास के बल से अपने को यथार्थ सुखी अनुभव करता है, तो ऐसी स्थिति मे उसके उस मत को परिवर्तित करने की चेष्टा करना किसी को भी उचित नहीं है; और ऐसा करने से कोई अच्छा फल भी नही होगा पर हाँ, मुँह से कोई कुछ भी क्यों न कहे, जब देखो कि किसी को केवल धर्म सम्बन्धी कथा-वार्ता सुनने में ही आग्रह है पर उसके आचरण में नहीं, तो जानना कि उसे किसी भी विषय में दृढ़ विश्वास नहीं है।

"धर्म का मूल उद्देश्य है—मनुष्य को सुखी करना। किन्तु परजन्म में सुखी होने के लिए इस जन्म में दुःख-भोग करना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है। इस जन्म में ही, इसी मुहूर्त से सुखी होना होगा। जिस धर्म के द्वारा यह सम्पन्न होगा, वही मनुष्य के लिए उपयुक्त धर्म है। इन्द्रियभोग-जनित सुख क्षणिक है, और उसके साथ अवश्यम्भावी दुःख भी अनिवार्य है। किन्तु, अज्ञानी और पाशविक स्वभाववाले मनुष्य ही इस क्षणस्थायी दुःखमिश्रित सुख को वास्तविक सुख समझते हैं। यदि इस सुख को भी कोई जीवन का एकमात्र उद्देश्य बनाकर चिरकाल तक

सम्पूर्ण रूप से निश्चिन्त और सुखी रह सके, तो वह भी कुछ बुरा नहीं है। किन्तु आज तक तो इस प्रकार का मनुष्य देखा नहीं गया। साधारणतः देखा यही जाता है कि जो इन्द्रिय-चरितार्थता को ही सुख समझते हैं, वे धनवान एवं विलासी लोगों को अपने से अधिक सुखी समझकर उनसे द्वेष करने लगते हैं और बहुत व्यय से प्राप्त होनेवाले उनके उच्च श्रेणी के इन्द्रिय-भोग्य पदार्थों को देखकर, उन्हें पाने के लिए लालायित होकर दुःखी हो जाते हैं। सम्राट् सिकन्दर समस्त पृथ्वी को जीतकर, यही सोचकर दुःखी हुए थे कि अब पृथ्वी में जीतने को और कोई देश नहीं रह गया। इसी लिए बुद्धिमान मनीषियों ने बहुत देख-सुनकर, सोच-विचारकर अन्त में सिद्धान्त स्थिर किया है कि किसी एक धर्म में यदि पूर्ण विश्वास हो, तभी मनुष्य निश्चिन्त और यथार्थ सुखी हो सकता है।

"विद्या, बुद्धि आदि सभी विषयों में प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव पृथक्-पृथक् देखा जाता है। इसी कारण उनके उपयुक्त धर्म का भी भिन्न-भिन्न होना आवश्यक है; अन्यथा वह किसी भी तरह उनके लिए सन्तोषप्रद न होगा, वे किसी भी तरह उसका अनुष्ठान करके यथार्थ सुखी नहीं हो सकेंगे। अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल धर्ममत को, स्वयं ही देख-भालकर, सोच-विचारकर चुन लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं। धर्मग्रन्थ का पाठ, गुरु का उपदेश, साधु-दर्शन, सत्पुरुषों का संग आदि उसे इस मार्ग में केवल सहायता मात्र देते हैं।

"कर्म के सम्बन्ध में भी यह जान लेना आवश्यक है कि किसी-न-किसी प्रकार का कर्म किए बिना कोई भी रह

सुन्दर ढंग से बहुतसी बातें कहीं। उनका मर्म जहां तक स्मरण है, उद्धृत कर रहा हूं:—

"समस्त प्राणी सतत सुखी होने की चेष्टा में रत रहते हैं; किन्तु बहुत ही थोड़े लोग सुखी हो पाते हैं। काम-धाम भी सभी सतत करते रहते हैं, किन्तु उसका ईप्सित फल पाना प्रायः देखा नहीं जाता। इस प्रकार विपरीत फल उपस्थित होने का कारण क्या है, यह भी समझने की कोई चेष्टा करता नहीं। इसी लिए मनुष्य दुःख पाता है। धर्म के सम्बन्ध में कैसा भी विश्वास क्यों न हो, यदि कोई उस विश्वास के बल से अपने को यथार्थ सुखी अनुभव करता है, तो ऐसी स्थिति में उसके उस मत को परिवर्तित करने की चेष्टा करना किसी को भी उचित नहीं है; और ऐसा करने से कोई अच्छा फल भी नहीं होगा। पर हां, मुंह से कोई कुछ भी क्यों न कहे, जब देखो कि किसी को केवल धर्म सम्बन्धी कथा-वार्ता सुनने में ही आग्रह है पर उसके आचरण में नहीं, तो जानना कि उसे किसी भी विषय में दृढ़ विश्वास नहीं है।

"धर्म का मूल उद्देश्य है—मनुष्य को सुखी करना। किन्तु परजन्म में सुखी होने के लिए इस जन्म में दुःख-भोग करना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है। इस जन्म में ही, इसी मुहूर्त से सुखी होना होगा। जिस धर्म के द्वारा यह सम्पन्न होगा, वही मनुष्य के लिए उपयुक्त धर्म है। इन्द्रियभोग-जनित सुख क्षणिक है, और उसके साथ अवश्यम्भावी दुःख भी [illegible] है। शिशु, अज्ञानी और पाशविक [illegible] दुःखमिश्रित सुख को [illegible] को भी कोई जीवन का [illegible]

और एक बात है, ईसाई मिशनरियों मे से बहुत से कहा करते हैं—"उनके बाइबिल की प्रत्येक घटना जिस वर्ष, जिस महीने, जिस दिन, जिस घटे और जिस मिनट घटित हुई है, वह बिलकुल सामने घड़ी रखकर लिपिबद्ध की गई है।" किन्तु एक ओर Conflict between Religion and Science (धर्म और विज्ञान मे सघर्ष) आदि पुस्तको मे बाइबिल की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उनके ही देश के आधुनिक पण्डितों का विचार पढकर बाइबिल की ऐतिहासिकता जिस प्रकार अच्छी तरह समझी जा सकती है, उसी प्रकार दूसरी ओर मिशनरियो द्वारा अनुवादित हिन्दू धर्म-शास्त्रों का अपूर्व विवरण पढ़कर उनका लिखित इतिहास भी कहाँ तक सत्य है, इसे समझने में कुछ अवशिष्ट नही रहता। यह सब देख-सुनकर मानव-जाति के सत्यानुराग एव इतिहास में लिपिबद्ध घटनाओं के ऊपर श्रद्धा प्राय. बिलकुल उड-सी जाती है।

गीता, बाइबिल, कुरान, पुराण प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों में निबद्ध घटनाओ की वास्तविक ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में इसी लिए पहले मुझे तनिक भी विश्वास नही होता था। एक दिन स्वामीजी से मैंने पूछा कि कुरुक्षेत्र मे युद्ध से थोड़ी देर पहले अर्जुन के प्रति भगवान श्रीकृष्ण का जो धर्मोपदेश भगवद्गीता में लिपिबद्ध है, वह यथार्थ ऐतिहासिक घटना है या नही ? उत्तर में उन्होंने जो कहा, वह बडा ही सुन्दर है। वे बोले, "गीता एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन काल मे इतिहास लिखने अथवा पुस्तक आदि छापने की आजकल के समान इतनी धूम-धाम नही थी; इसलिए तुम्हारे सदृश लोगो के सामने भगवद्गीता का ऐतिहासिकत्व प्रमाणित करना कठिन है। किन्तु गीता मे उक्त घटना

नहीं सकता, और जगत् में केवल अच्छा या केवल बुरा, इस प्रकार का कोई कर्म नहीं है। सत्कर्म करने में कुछ-न-कुछ बुरा कर्म भी करना ही पड़ता है। और इसी लिए उस कर्म के द्वारा जैसे सुख होगा, वैसे ही साथ-ही-साथ कुछ-न-कुछ दुःख एवं अभाव का बोध भी होगा—यह अवश्यम्भावी है। अतएव यदि उस थोड़े से दुःख को भी ग्रहण करने की इच्छा न हो, तो फिर विषय-भोगजनित ऊपरी सुख की आशा भी छोड़ देनी होगी, अर्थात् स्वार्थ-सुख का अन्वेषण करना छोड़कर कर्तव्य-बुद्धि से सभी कार्य करने होंगे। इसी का नाम है निष्काम कर्म। भगवान गीता में अर्जुन को उसी का उपदेश देते हुए कहते हैं—'काम करो, किन्तु फल मुझे अर्पण करो; अर्थात् मेरे लिए ही काम करो।'"

किसी विषय का इतिहास कहाँ तक ठीक-ठीक लिखा जा सकता है, इस विषय में लेखक को बहुत सन्देह है। उसके अनेक कारण हैं। गवर्नर जनरल साहब के किसी शहर में पदार्पण से लेकर उस शहर से जाने तक की घटना अपनी आँखों से देखने और बाद में उसी का विवरण प्रसिद्ध-प्रसिद्ध संवाद-पत्रों में पढ़ने की सुविधा हमारे सदृश लोगों को अधिकतर होती है। आदि से अन्त तक हम लोगों की देखी हुई घटनाओं के साथ इन सभी विवरणों की इतनी विभिन्नता देखी जाती है कि अवाक् रह जाना पड़ता है! चार दिन पहले जो घटना हुई है, उसी को लिपिबद्ध करना जब इतना कठिन है, तो चार सौ, चार हजार अथवा चार लाख वर्ष पहले जो घटना हुई है, उसका इतिहास कहाँ तक ठीक-ठीक लिपिबद्ध हुआ है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

और एक वात है, ईसाई मिशनरियो मे से बहुत से कहा करते हैं—"उनके बाइबिल की प्रत्येक घटना जिस वर्ष, जिस महीने, जिस दिन, जिस घटे और जिस मिनट घटित हुई है, वह बिलकुल सामने घडी रखकर लिपिवद्ध की गई है।" किन्तु एक ओर Conflict between Religion and Science (धर्म और विज्ञान मे सघर्ष) आदि पुस्तकों में बाइबिल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनके ही देश के आधुनिक पण्डितो का विचार पढकर बाइबिल की ऐतिहासिकता जिस प्रकार अच्छी तरह समझी जा सकती है, उसी प्रकार दूसरी ओर मिशनरियो द्वारा अनुवादित हिन्दू धर्म-शास्त्रो का अपूर्व विवरण पढकर उनका लिखित इतिहास भी कहाँ तक सत्य है, इसे समझने में कुछ अवशिष्ट नही रहता। यह सब देख-सुनकर मानव-जाति के सत्यानुराग एव इतिहास में लिपिवद्ध घटनाओ के ऊपर श्रद्धा प्राय. बिलकुल उड-सी जाती है।

गीता, बाइबिल, कुरान, पुराण प्रभृति प्राचीन ग्रन्थो में निबद्ध घटनाओं की वास्तविक ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में इसी लिए पहले मुझे तनिक भी विश्वास नही होता था। एक दिन स्वामीजी से मैंने पूछा कि कुरुक्षेत्र मे युद्ध से थोड़ी देर पहले अर्जुन के प्रति भगवान श्रीकृष्ण का जो धर्मोपदेश भगवद्गीता में लिपिवद्ध है, वह यथार्थ ऐतिहासिक घटना है या नही? उत्तर में उन्होंने जो कहा, वह बड़ा ही सुन्दर है। वे बोले, "गीता एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन काल में इतिहास लिखने अथवा पुस्तक आदि छापने की आजकल के समान इतनी धूम-धाम नहीं थी; [illegible] हमारे सदृश लोगों के सामने भगवद्गीता का ऐति- [illegible] करना कठिन है। किन्तु गीता में उक्त घटना

घटी थी या नहीं, इसके लिए तुम लोग जो माथा-पच्ची करते हो, इसका कोई कारण मुझे नहीं दिखता। यदि कोई अकाट्य प्रमाण से तुम्हें यह समझा सके कि भगवान श्रीकृष्ण ने सारथी होकर अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था, क्या केवल तभी तुम लोग गीता में वर्णित बातों पर विश्वास करोगे ? जब साक्षात् भगवान के तुम्हारे सामने मूर्तिमान होकर आने पर भी तुम लोग उनकी परीक्षा करने के लिए दौड़ते हो और उनका ईश्वरत्व प्रमाणित करने के लिए कहते हो, तब गीता ऐतिहासिक है या नहीं, इस व्यर्थ की समस्या को लेकर क्यों परेशान होते हो ? यदि हो सके, तो गीता के उपदेशों को जितना बने ग्रहण करो, और उसे जीवन में परिणत कर कृतार्थ हो जाओ। परमहंस रामकृष्ण देव कहते थे—'आम खाओ, पेड़ के पत्ते गिनने से क्या होगा ?' मेरी राय में धर्म-शास्त्र में लिपिबद्ध घटना के ऊपर विश्वास या अविश्वास करना वैयक्तिक अनुभव-मेल का विषय है—अर्थात् मनुष्य किसी एक विशेष अवस्था में पड़कर, उससे उद्धार पाने की इच्छा से रास्ता ढूँढ़ता है और धर्म-शास्त्र में लिपिबद्ध किसी घटना के साथ उसकी अवस्था के ठीक-ठीक मेल होने पर वह उन घटना को ऐतिहासिक कहकर उस पर निश्चित विश्वास करता है तथा धर्म-शास्त्रोक्त उस अवस्था के उपयोगी उपायों को भी साग्रह ग्रहण करता है।"

स्वामीजी ने एक दिन, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति को अभीष्ट कार्य के लिए सुरक्षित रखना प्रत्येक के लिए कहाँ तक कर्तव्य है, इसे बड़े सुन्दर भाव से समझाते हुए कहा था—"अनधिकार चर्चा अथवा वृथा कार्य में जो शक्ति क्षय करता है, वह अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त शक्ति कहाँ से

प्राप्त करेगा? The sum-total of the energy which can be exhibited by an ego is a constant quantity— अर्थात् प्रत्येक जीवात्मा के भीतर विविध भाव प्रकाशित करने की जो शक्ति रहती है, वह मर्यादित है; अतएव उस शक्ति का अधिकांश एक भाव में प्रकाशित होने पर उतना अंश और किसी दूसरे भाव में प्रकाशित नहीं हो सकता। धर्म के गम्भीर सत्य को प्रत्यक्ष करने के लिए बहुत शक्ति की आवश्यकता होती है; इसी लिए धर्म-पथ के पथिकों के प्रति विषय-भोग आदि में शक्ति क्षय न कर ब्रह्मचर्य के द्वारा शक्ति-संरक्षण का उपदेश सभी जातियों के धर्मग्रन्थों में पाया जाता है।"

स्वामीजी बंगाल के ग्रामों तथा वहाँ के लोगों के कई आचरणों पर उतने सन्तुष्ट नहीं थे। ग्राम के एक ही तालाब में स्नान, शौच आदि करना एवं उसी का पानी पीना, यह प्रथा उन्हें बिलकुल पसन्द न थी। वे प्राय कहा करते थे, "जिनका मस्तिष्क मल-मूत्र से भरा है, उन लोगों से आशा-भरोसा कहाँ? और यह जो ग्रामीण लोगों का अनधिकार चर्चा करना है, वह तो बड़ी खराब चीज है। शहर के लोग अनधिकार चर्चा न करते हों, ऐसी बात नहीं, परन्तु उन्हें समय कम मिलता है, क्योंकि शहर का खर्च अधिक है, इसलिए उन्हें काम भी बहुत करना पड़ता है। इतना परिश्रम करने के बाद, खाली बैठकर तमाकू खाने और परनिन्दा करने का समय नहीं मिलता। अन्यथा ये शहरी भूत इस विषय में तो ग्रामीण भूतों की गर्दन पर चढ़कर नाचते।"

स्वामीजी की प्रत्येक दिन की कथा-वार्ता यदि संगृहीत होती, तो प्रत्येक दिन की बातें एक-एक मोटी पुस्तक होतीं।

एक ही प्रश्न का बार-बार एक ही भाव से उत्तर देना एवं एक ही दृष्टान्त की सहायता से उसे समझाना उनकी रीति नहीं थी। एक ही प्रश्न का उत्तर जितनी बार देते, उतनी बार नए भाव और नए दृष्टान्त के द्वारा इस प्रकार देते कि वह सुननेवालों को एकदम नया मालूम होता था, और उनकी वाणी सुनते-सुनते थकावट आना तो दूर की बात रही, बल्कि और अधिक सुनने का अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। व्याख्यान देने की भी उनकी यही शैली थी। पहले से सोचकर व्याख्यान के मुद्दों को लिखकर वे कभी भी व्याख्यान नहीं देते थे। व्याख्यान-प्रारम्भ से कुछ देर पहले तक वे हँसी-मजाक, साधारण भाव से बातचीत एवं व्याख्यान से बिलकुल सम्बन्ध न रखनेवाले विषयों को लेकर भी चर्चा करते रहते थे। व्याख्यान में क्या कहेंगे, यह उन्हें स्वयं नहीं मालूम रहता था। हम लोग जो कुछ दिन उनके संस्पर्श में रहकर धन्य हुए हैं, उन्हीं कुछ दिनों की कथा-वार्ता का विवरण जहाँ तक और भी सम्भव है, क्रमशः लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

*　　　*　　　*　　　*

पहले ही कह चुका हूँ कि पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से हिन्दू धर्म को समझाने एवं विज्ञान और धर्म का सामंजस्य प्रदर्शित करने में स्वामीजी के समान मैंने और कोई नहीं देखा। आज उसी प्रसंग में दो-चार बातें लिखने की इच्छा है। किन्तु यह जान लेना होगा, मुझे जहाँ तक स्मरण है, उतना ही लिख रहा हूँ। अतएव इसमें यदि कोई भूल रहे, तो वह मेरे समझने की भूल है, स्वामीजी की व्याख्या की नहीं।

स्वामीजी कहते थे—"चेतन-अचेतन, स्थूल-सूक्ष्म—सभी एकत्व की ओर दम नापकर दौड़ रहे हैं। पहले मनुष्य ने जिन

भिन्न-भिन्न पदार्थों को देखा, उनमें से प्रत्येक को भिन्न-भिन्न समझकर उनको भिन्न-भिन्न नाम दिए। बाद में विचार करके ये समस्त पदार्थ ६३ मूल द्रव्यों (elements) से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा निश्चित किया।

"इन मूल द्रव्यों में अनेक मिश्रद्रव्य (compounds) हैं, ऐसा इस समय बहुतों को सन्देह हो रहा है। और जब रसायन-शास्त्र (Chemistry) अन्तिम मीमांसा पर पहुँचेगा, उस समय सभी पदार्थ एक ही पदार्थ के अवस्था-भेद मात्र समझे जायँगे। पहले ताप, आलोक और विद्युत् (Heat, Light and Electricity) को सभी विभिन्न समझते थे। अब प्रमाणित हो गया है, ये सब एक हैं, एक ही शक्ति के अवस्थान्तर मात्र हैं। लोगों ने पहले समस्त पदार्थों को चेतन, अचेतन और उद्भिद् इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया था। उसके बाद देखा कि उद्भिद् में भी दूसरे सभी चेतन प्राणियों के समान प्राण है, केवल गमन-शक्ति नहीं है, इतना ही। तब बाकी रहीं दो श्रेणियाँ — चेतन और अचेतन। फिर कुछ दिनों बाद देखा जायगा, हम लोग जिन्हें अचेतन कहते हैं, उनमें भी थोड़ा-बहुत चैतन्य है।*

"पृथ्वी में जो ऊँची-नीची जमीन देखी जाती है, वह भी समतल होकर एक रूप में परिणत होने की सतत चेष्टा कर रही है। वर्षा के जल से पर्वत आदि ऊँची जमीन धुल जाने पर उस मिट्टी से गड्ढे भर रहे हैं। एक उष्ण पदार्थ को किसी स्थान में रखने

* स्वामीजी ने जिस समय पूर्वोक्त विषयों का प्रतिपादन किया था, उस समय विख्यात वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु द्वारा प्रचारित तड़ित्प्रवाह से जड़ पदार्थों का चेतनस्वरूप (response of inorganic matter to electric currents) अपूर्व तत्त्व प्रकाशित नहीं हुआ था।

पर वह चारों ओर के द्रव्यों के साथ समान उष्ण भाव धारण करने की चेष्टा करता है। उष्णता-शक्ति इस प्रकार सचालन, संवाहन, विकीरण (conduction, convection and radiation) आदि उपायों से सर्वदा समभाव या एकत्व की ओर ही अग्रसर हो रही है।

"वृक्ष के फल, फूल, पत्ते और उसकी जड़ हम लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न देखे जाने पर भी वे सब वस्तुतः एक ही हैं, विज्ञान इसे प्रमाणित कर चुका है। त्रिकोण कांच के भीतर से देखने पर सफेद रंग इन्द्रधनुष के सात रंग के समान पृथक्-पृथक् विभक्त दिखाई पड़ता है। खाली आँखों से देखने पर एक ही रंग, और लाल या नीले चश्मे से देखने पर सभी कुछ लाल या नीला दिखाई देता है।

"इसी प्रकार, जो सत्य है, वह तो एक ही है। माया के द्वारा हम लोग उसे पृथक्-पृथक् देखते हैं, बस इतना ही। यद्यपि देश और काल से अतीत जो अखण्ड अद्वैत सत्य है, उसी के कारण मनुष्य को सब प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान होता है, फिर भी वह उस सत्य को नहीं पकड़ पाता, उसे नहीं देख सकता।"

इन सब बातों को सुनकर मैंने कहा, "स्वामीजी, हम लोग आँखों से जो कुछ देखते हैं, वही क्या सब समय सत्य है? दो समानान्तर रेल की पटरियों को देखने पर प्रतीत होता है, मानो वे अन्त में एक जगह मिल गई हैं। उसी का नाम है 'लुप्त बिन्दु' (vanishing point)। मृगतृष्णा, रस्सी में सर्प-भ्रम आदि optical illusion (दृष्टि-विभ्रम) सर्वदा ही होता

रहता है। Calcspar नामक पत्थर के नीचे एक रेखा double refraction (द्वि-आवर्तन) से दो दिखाई देती है। एक पेन्सिल को आधे ग्लास पानी में डुबाकर रखने पर पेन्सिल का जलमग्न भाग ऊपरी भाग की अपेक्षा मोटा दिखाई देता है। फिर सभी प्राणियों के नेत्र भिन्न-भिन्न क्षमतायुक्त एक-एक लेन्स (lens) मात्र हैं। हम लोग किसी वस्तु को जितनी बड़ी देखते हैं, घोड़ा आदि अनेक प्राणी उसको तदपेक्षा अधिक बड़ी देखते हैं, क्योंकि उनके नेत्रों का लेन्स भिन्न शक्तिवाला है। अतएव हम जिसे अपनी आंखों से देखते हैं, वही सत्य है, इसका भी तो कोई प्रमाण नहीं। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है—मनुष्य सत्य-सत्य करके ही पागल है, किन्तु प्रकृत सत्य (Absolute Truth) को समझने की क्षमता उसमें नहीं है; क्योंकि, घटनाक्रम से प्रकृत सत्य के आंखों के सामने आने पर भी यही वास्तविक सत्य है, यह मनुष्य कैसे समझेगा? हम लोगों का समस्त ज्ञान सापेक्ष (relative) है, निरपेक्ष (Absolute) को समझने की क्षमता हममें नहीं है। अतएव निरपेक्ष (निर्गुण) भगवान या जगत्कारण को मनुष्य कभी भी नहीं समझ सकता।"

स्वामीजी ने कहा, "हो सकता है, तुम्हें या और सब लोगों को निरपेक्ष ज्ञान न हो, पर इसी लिए किसी को भी वह ज्ञान नहीं है, यह कैसे कह सकते हो? ज्ञान और अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान नामक दो प्रकार के भाव या अवस्थाएँ हैं। इस समय तुम जिसे ज्ञान कहते हो, वह तो वस्तुतः मिथ्याज्ञान है। सत्यज्ञान के उदय होने पर वह अन्तर्हित हो जाता है, उस समय सब एक दिखाई देता है। द्वैतज्ञान अज्ञानजनित है।"

मैंने कहा, "स्वामीजी, यह तो बड़ी भयानक बात है! यदि

ज्ञान और अज्ञान ये दो ही वस्तुएँ हैं, तो ऐसा होने पर आप जिसे सत्यज्ञान समझते हैं, वह भी तो मिथ्याज्ञान हो सकता है, और हम लोगों के जिस द्वैतज्ञान को आप मिथ्याज्ञान कहते हैं, वह भी तो सत्यज्ञान हो सकता है ?"

उन्होंने कहा, "ठीक कहते हो, इसी लिए तो वेद में विश्वास करना चाहिए। हमारे पूर्वकालीन ऋषि-मुनिगण समस्त द्वैतज्ञान को पार कर, इस अद्वैत सत्य का अनुभव कर जो कह गए हैं, उसी को वेद कहते है। स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में से कौनसी सत्य है और कौनसी असत्य, इसे विचारने की क्षमता हम लोगों में नहीं है। जब तक हम लोग इन दोनों अवस्थाओं को पार कर इनकी परीक्षा नहीं कर सकेंगे, तब तक कैसे कह सकते हैं कि यह सत्य है और वह असत्य? केवल दो विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव होता है, इतना ही कहा जा सकता है। जब तुम एक अवस्था में रहते हो, तो दूसरी अवस्था तुम्हें भूल मालूम पड़ती है। स्वप्न में हो सकता है, कलकत्ते में तुमने क्रय-विक्रय किया, पर दूसरे ही क्षण अपने को बिछौने पर लेटे हुए पाते हो। जब सत्यज्ञान का उदय होगा, तब एक से भिन्न और कुछ नहीं देखोगे, उस समय यह समझ सकोगे कि पहले का द्वैतज्ञान मिथ्या था। किन्तु यह सब बहुत दूर की बात है। हाथ में खड़िया लेकर अक्षरारम्भ करते ही यदि कोई रामायण, महाभारत पढ़ने की इच्छा करे, तो यह कैसे होगा ? धर्म अनुभव का विषय है, बुद्धि के द्वारा समझने का नहीं। प्रत्यक्ष प्रयत्न करके देखना होगा, तब उसका सत्यासत्य समझा जा सकेगा। यह बात तुम लोगों के पाश्चात्य विज्ञान रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि से भी अनुमोदित है। दो अंश Hydrogen (उदजन)

और एक अंश Oxygen (ओषजन) लेकर 'पानी कहाँ' कहने से क्या कहीं पानी होगा? नहीं; उनको एक सख्त स्थान में रखकर उनके भीतर electric current (विद्युत्प्रवाह) चलाकर उनका combination (संयोग, मिश्रण नहीं) करने पर ही पानी दिखाई देगा और ज्ञात होगा कि उदजन और ओषजन नामक गैस से पानी उत्पन्न हुआ है। अद्वैतज्ञान की उपलब्धि के लिए भी ठीक उसी तरह धर्म में विश्वास चाहिए, आग्रह चाहिए, अध्यवसाय चाहिए और चाहिए प्राणपण से यत्न। तब कहीं अद्वैतज्ञान होता है। एक महीने की आदत छोड़ना ही तो कितना कठिन होता है, फिर दस साल की आदत की तो बात ही नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के सैकड़ों जन्मों का कर्मफल पीठ पर बँधा हुआ है। एक मुहूर्त भर श्मशान-वैराग्य हुआ नहीं कि बस कहने लगे, 'कहाँ, मुझे तो सब एक दिखाई नहीं पड़ता ?' "

मैंने कहा, "स्वामीजी, आपकी यह बात सत्य होने पर तो Fatalism (अदृष्टवाद) आ जाता है। यदि बहुत जन्मों का कर्मफल एक जन्म में जाने का नहीं, तो उसके लिए फिर प्रयत्न ही क्यों! जब सभी को मुक्ति मिलेगी, तो मुझे भी मिलेगी।"

इन दो भागों में विभक्त है। मनुष्य सृष्टवस्तु के चेतन-भाग का श्रेष्ठ प्राणीविशेष है। किसी-किसी धर्म के मतानुसार ईश्वर ने अपने ही समान रूपवाली सर्वश्रेष्ठ मानव-जाति का निर्माण किया है; कोई कहते है--मनुष्य पुच्छरहित वानरविशेष है; कोई कहते हैं--केवल मनुष्य में ही विवेचना-शक्ति है, उसका कारण यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क मे जल का अंश अधिक है। जो भी हो, मनुष्य प्राणीविशेष है और सब प्राणी सृष्टपदार्थ के अंश मात्र है, इस विषय में मतभेद नहीं है। अब एक ओर पाश्चात्य विद्वानगण 'सृष्टपदार्थ क्या है' यह समझने के लिए संश्लेषण-विश्लेषणात्मक उपायों का अवलम्बन कर 'यह क्या', 'वह क्या' इस प्रकार अनुसन्धान करने लगे; और दूसरी ओर हमारे पूर्वज लोग भारतवर्ष की गरम हवा और उर्वरा भूमि में, शरीर-रक्षा के लिए बिलकुल थोड़ा समय देकर, कौपीन धारण कर, टिमटिमाते दिये के प्रकाश में बैठकर, कमर बाँधकर विचार करने लगे--'कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिद विज्ञातं भवति,' अर्थात् 'ऐसा कौनसा पदार्थ है, जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है?' उन लोगों मे अनेक प्रकार के लोग थे। इसी लिए चार्वाक के, 'जो कुछ दिखता है, वही सत्य है' इस मत (ultra-materialistic theory) से लेकर शंकराचार्य के अद्वैत मत तक सभी हमारे धर्म में पाए जाते हैं। ये दोनों ही दल धीरे-धीरे एक स्थान में पहुँच रहे हैं और अब दोनों ने एक ही बात कहना आरम्भ कर दिया है। दोनों ही कहते हैं--इस ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ एक अनिर्वचनीय, अनादि, अनन्त वस्तु के प्रकाश मात्र हैं। देश एवं काल भी वही है। काल अर्थात् युग, कल्प, ... मास, दिन और मुहूर्त आदि समय-सूचक काल,

जिसके अनुभव में सूर्य की गति ही हमारी प्रधान सहायक है। जरा सोचकर तो देखो, यह काल क्या मालूम होता है? सूर्य अनादि नहीं है; ऐसा समय अवश्य था, जब सूर्य की सृष्टि नहीं हुई थी। और ऐसा समय भी आयगा, जब यह सूर्य नहीं रहेगा; यह निश्चित है। अतः अखण्ड समय एक अनिर्वचनीय भाव या वस्तुविशेष के अतिरिक्त भला और क्या है? देश या आकाश कहने पर हम लोग पृथ्वी अथवा सौरजगत्सम्बन्धी सीमाबद्ध स्थानविशेष समझते हैं; किन्तु वह तो समग्र सृष्टि का अंशमात्र छोड़ और कुछ भी नहीं है। ऐसा भी स्थान हो सकता है, जहाँ पर कोई सृष्ट वस्तु नहीं है। अतएव अनन्त देश भी काल के समान एक अनिर्वचनीय भाव या वस्तुविशेष है। अब, सौरजगत् और सृष्ट पदार्थ कहाँ से और किस तरह आए? साधारणतः हम लोग कर्ता के अभाव में क्रिया नहीं देख पाते। अतएव समझते हैं कि इस सृष्टि का अवश्य कोई कर्ता है; किन्तु ऐसा होने पर तो सृष्टि-कर्ता का भी कोई सृष्टि-कर्ता आवश्यक है। किन्तु वैसा हो नहीं सकता। अतएव आदिकारण, सृष्टिकर्ता या ईश्वर भी अनादि, अनिर्वचनीय, अनन्त भाव या वस्तुविशेष है। पर अनन्त की अनेकता तो सम्भव नहीं है, अतएव ये सब अनन्त पदार्थ एक ही हैं एवं एक ही विविध रूपों में प्रकाशित है।"

एक समय मैंने पूछा था, "स्वामीजी, मन्त्र आदि में जो साधारणतया विश्वास प्रचलित है, वह क्या सत्य है?"

उन्होंने उत्तर दिया, "सत्य न होने का कोई कारण तो देखता नहीं। तुमसे कोई यदि करुण स्वर एवं मधुर भाषा में कोई बात पूछे, तो तुम सन्तुष्ट होते हो, पर कठोर स्वर एवं तीखी भाषा में पूछे, तो तुम्हें क्रोध आ जाता है। तब फिर भला प्रत्येक

भूत के अधिष्ठाता देवता सुललित उत्तम श्लोकों द्वारा क्यों न सन्तुष्ट होंगे ?"

इन सब बातों को सुनकर मैंने कहा, "स्वामीजी मेरी विद्या-बुद्धि की दौड़ को तो आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस समय मेरा क्या कर्तव्य है, यह आप बतलाने की कृपा करें।"

स्वामीजी ने कहा, "जिस प्रकार भी हो, पहले मन को वश में लाने की चेष्टा करो, बाद में सब आप ही हो जायगा। ध्यान रखो, अद्वैतज्ञान अत्यन्त कठिन है; वही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य या लक्ष्य है, किन्तु उस लक्ष्य तक पहुंचने के पहले अनेक चेष्टा और आयोजन की आवश्यकता होती है। साधु-संग और यथार्थ वैराग्य के छोड़ उसके अनुभव का और कोई साधन नहीं।"

स्वामीजी की अस्फुट स्मृति

आज से सोलह वर्ष पहले की बात है।* सन् १८९७ ईसवी, फरवरी मास। स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य देशो को जीतकर अभी-अभी भारतवर्ष मे पदार्पण किया है। जिस क्षण से स्वामीजी ने शिकागो-धर्ममहासभा मे हिन्दू-धर्म की विजय-पताका फहराई है, तब से उनके सम्बन्ध मे जो भी बात सवाद-पत्रो मे प्रकाशित होती है, बड़े चाव से पढता हूँ। कालेज छोड़े अभी दो-तीन वर्ष हुए है, किसी प्रकार का अर्थोपार्जन आदि नही कर रहा हूँ। इसलिए कभी मित्रो के घर जाकर, अथवा कभी घर के समीपवर्ती धर्मतला मुहल्ले मे 'इण्डियन मिरर' आफिस के बाहरी भाग मे बोर्ड पर चिपकी हुई 'इण्डियन मिरर' पत्रिका मे स्वामीजी से सम्बन्धित जो कोई सवाद या उनका व्याख्यान प्रकाशित होता है, उसे बडी उत्सुकता से पढ़ा करता हूँ। इस प्रकार, स्वामीजी के भारत मे पदार्पण करने के समय से सिंहल या मद्रास मे जो कुछ उन्होने कहा है, प्राय सभी पढ चुका हूँ। इसके अतिरिक्त, आलमबाजार मठ मे जाकर उनके गुरुभाइयो के पास एव मठ मे आने-जानेवाले मित्रो के पास उनके विषय मे बहुतसी बाते सुन चुका हूँ और सुनता हूँ, तथा विभिन्न सम्प्रदायों के मुखपत्र, जैसे—बगवासी, अमृतबाजार, होप, थिओसोफिस्ट प्रभृति, अपनी-अपनी समझ के अनुसार—कोई व्यग से, कोई उपदेश देने के बहाने, तो कोई बड़प्पन के ढग से—उनके बारे मे जो कुछ लिखते है, वह भी लगभग सब पढ़ चुका हूँ।

---

* बंगला सन् १३२० के आषाढ़ मास के बंगला मासिक-पत्र उद्बोधन में यह लेख प्रकाशित हुआ था।

गाड़ी से उतारा और कुछ दूर खड़ी एक गाड़ी में बिठाया। बहुत से लोग स्वामीजी को प्रणाम करने और उनकी चरण-रेणु लेने के लिए अग्रसर हुए। उस जगह बड़ी भीड़ जम गई। इधर दर्शकों के हृदय से आप ही "जय स्वामी विवेकानन्दजी की जय," "जय रामकृष्ण परमहंस देव की जय" की आनन्द-ध्वनि निकलने लगी। मैं भी हृदय से उस आनन्द-ध्वनि में सहयोग देकर जनता के साथ अग्रसर होने लगा। क्रमशः जब स्टेशन के बाहर निकले, तो देखा, बहुत से युवक स्वामीजी की गाड़ी के घोड़े खोलकर खुद ही गाड़ी खींचने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। मैंने भी उन लोगों को सहयोग देना चाहा, परन्तु भीड़ के कारण वैसा न कर सका। इसलिए उस चेष्टा को छोड़कर कुछ दूर से स्वामीजी की गाड़ी के साथ चलने लगा। स्टेशन पर स्वामीजी के स्वागतार्थ आए हुए एक हरिनाम-संकीर्तन-दल को देखा था। रास्ते में एक बैण्ड बजानेवाले दल को बैण्ड बजाते हुए स्वामीजी के साथ चलते देखा। रिपन कालेज तक का मार्ग अनेक प्रकार की पताकाओं एवं लता, पत्र और पुष्पों से सुसज्जित था। गाड़ी आकर रिपन कालेज के सामने खड़ी हुई। इस बार स्वामीजी को देखने का अच्छा सुयोग मिला। देखा, वे किसी परिचित व्यक्ति से कुछ कह रहे हैं। मुख तप्तकांचनवर्ण है, मानो ज्योति फूटकर बाहर निकल रही है। मार्गजनित श्रम के कारण कुछ पसीना आ रहा है। दो गाड़ियाँ हैं—एक में स्वामीजी एवं श्रीमान और श्रीमती सेवियर बैठे हैं, जिसमें खड़े होकर माननीय चारुचन्द्र मित्र हाथ के इशारे से जनता को नियन्त्रित कर रहे हैं; और दूसरी गाड़ी में गुडविन, हैरिसन (सिंहल से स्वामीजी के साथ आए हुए बौद्ध धर्मावलम्बी एक साहब), जि० जि०,

किड़ी और आलासिंगा नामक तीन मद्रासी शिष्य एवं स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी बैठे हुए हैं।

थोड़ी देर गाड़ी रुकने के बाद, बहुतों के अनुरोध-वश स्वामीजी रिपन कालेज मे प्रवेश कर दो-तीन मिनट अँगरेजी में थोड़ा बोले और लौटकर गाड़ी में आकर बैठ गए। यहाँ से जुलूस आगे नहीं गया। गाड़ी बागबाजार में पशुपति बाबू के घर की ओर चली। मैं भी मन-ही-मन स्वामीजी को प्रणाम कर अपने घर की ओर लौटा।

*　　　*　　　*　　　*

भोजन करने के बाद मध्याह्न काल मे चाँपातला मुहल्ले में खगेन (स्वामी विमलानन्द) के घर गया। वहाँ से खगेन और मैं उसके टाँगे में बैठकर पशुपति बसु के घर की ओर चले। स्वामीजी ऊपर के कमरे मे विश्राम कर रहे थे, अधिक लोगों को नही जाने दिया जा रहा था। सौभाग्यवश हमारे परिचित, स्वामीजी के अनेक गुरुभाइयों से भेट हो गई। स्वामी शिवानन्दजी हम लोगों को स्वामीजी के पास ले गए और हम लोगों का परिचय देते हुए कहा, "ये सब आपके खूब admirers (प्रेमी) है।"

स्वामीजी और स्वामी योगानन्द पशुपति बाबू के घर की दूसरी मंजिल पर एक सुसज्जित बैठकखाने में पास-पास दो कुरसियों पर बैठे थे। अन्य साधुगण उज्ज्वल गैरिक वस्त्र धारण किए हुए इधर-उधर घूम रहे थे। फर्श पर दरी बिछी हुई थी। हम लोग प्रणाम करके दरी पर बैठे। स्वामीजी उस समय स्वामी योगानन्द से बातचीत कर रहे थे। अमेरिका और यूरोप में स्वामीजी ने क्या देखा, यह प्रसंग चल रहा था। स्वामीजी कह रहे थे—

"देख योगेन, क्या देखा, बताऊँ? समस्त पृथ्वी में एक महाशक्ति ही क्रीड़ा कर रही है। हमारे पूर्वजो ने उसको religion (धर्म) की ओर manifest (प्रकाशित) किया था, और आधुनिक पाश्चात्य देशीय उसी को महारजोगुणात्मक क्रिया के रूप मे manifest (प्रकाशित) कर रहे है। वस्तुत. समग्र जगत् में वही एक महाशक्ति भिन्न-भिन्न रूप में क्रीडा कर रही है।"

खगेन की ओर देखकर स्वामीजी ने कहा, "इस लडके को बहुत sickly (कमजोर) देखता हूँ।"

स्वामी शिवानन्द ने उत्तर दिया, "यह बहुत दिनों से chronic dyspepsia (पुराने अजीर्ण रोग) से पीडित है।"

स्वामीजी ने कहा, "हमारा बंगला देश बहुत sentimental (भावुक) है न, इसी लिए यहाँ इतना dyspepsia होता है।"

कुछ देर बाद हम लोग प्रणाम करके अपने-अपने घर लौट आए।

* * * *

स्वामीजी और उनके शिष्य श्रीमान और श्रीमती सेवियर काशीपुर मे स्व० गोपाललाल शील के बंगले मे निवास कर रहे है। स्वामीजी के श्रीमुख से कथा-वार्ता सुनने के लिए अपने बहुत से मित्रों के साथ मे इस स्थान पर कई बार गया था। वहाँ के प्रसग जो कुछ स्मरण है, वह इस प्रकार है.—

स्वामीजी के साथ मुझे वार्तालाप का सौभाग्य सर्वप्रथम उसी बंगले के एक कमरे मे हुआ। स्वामीजी आकर बैठे है, मैं भी आकर प्रणाम करके बैठा हूँ, उस समय वहाँ और कोई नहीं

है। न जाने क्यों, स्वामीजी ने एकाएक मुझसे पूछा, "क्या तू तम्बाकू पीता है?"

मैंने कहा, "जी नहीं।"

उस पर स्वामीजी बोले, "हाँ, बहुत से लोग कहते हैं—तम्बाकू पीना अच्छा नहीं।"

एक दूसरे दिन स्वामीजी के पास एक वैष्णव आए हुए हैं। स्वामीजी उनके साथ वार्तालाप कर रहे हैं। मैं कुछ दूर पर बैठा हूँ, और कोई नहीं है। स्वामीजी कह रहे हैं, "बाबाजी, अमेरिका में मैंने श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में एक बार व्याख्यान दिया। उसको सुनकर एक परम सुन्दरी, अगाध ऐश्वर्य की अधिकारिणी युवती सर्वस्व त्यागकर, एक निर्जन द्वीप में जाकर श्रीकृष्ण के ध्यान में उन्मत्त हो गई।" उसके बाद स्वामीजी त्याग के सम्बन्ध मे कहने लगे, "जिन सम्प्रदायो मे त्याग-भाव का प्रचार उतने उज्ज्वल रूप मे नही है, उनके भीतर शीघ्र ही अवनति आ जाती है, जैसे—वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय।"

और एक दिन स्वामीजी के पास गया। देखता हूँ, बहुत से लोग बैठे हैं और स्वामीजी एक युवक को लक्ष्य कर वार्तालाप कर रहे हैं। युवक बंगाल थिओसोफिकल सोसायटी के भवन में रहता है। वह कह रहा है, "मैं अनेक सम्प्रदायो में जाता हूँ, किन्तु सत्य क्या है, यह निर्णय नहीं कर सक रहा हूँ।"

स्वामीजी अत्यन्त स्नेहपूर्ण स्वर में कह रहे हैं, "देखो बच्चा, मेरी भी एक दिन तुम्हारी-जैसी अवस्था थी। फिर भय क्या? अच्छा, भिन्न-भिन्न लोगों ने तुमसे क्या-क्या कहा था, और तुमने क्या-क्या किया, बताओ तो सही?"

युवक कहने लगा, "महाराज, हमारी सोसायटी में भवानी-

शंकर नामक एक विद्वान् प्रचारक हैं। मूर्तिपूजा के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति में जो विशेष सहायता मिलती है, उसे उन्होंने मुझे बहुत सुन्दर ढंग से समझा दिया। मैंने भी तदनुसार कुछ दिनों तक खूब पूजा-अर्चना की, किन्तु उससे शान्ति नही मिली। उसी समय एक महाशय ने मुझे उपदेश दिया—'देखो, मन को बिल्कुल शून्य करने की कोशिश करो, उससे तुम्हें परम शान्ति मिलेगी।' मैं बहुत दिनों तक उसी कोशिश मे लगा रहा, किन्तु उससे भी मेरा मन शान्त न हुआ। महाराज, मैं अब भी एक कोठरी में, दरवाजा बन्द कर, जब तक बन पडता है बैठा रहता हूं, किन्तु शान्ति तो किसी भी तरह नही मिल रही है। क्या आप दया कर यह बता सकेंगे, शान्ति किससे मिलेगी?"

स्वामीजी स्नेह-भरे स्वर में कहने लगे, "बच्चा, यदि तुम मेरी बात सुनो, तो तुम्हें अब पहले अपनी कोठरी का दरवाजा खुला रखना होगा। तुम्हारे घर के पास, बस्ती के पास कितने अभावग्रस्त लोग रहते हैं। उनकी तुम्हे यथासाध्य सेवा करनी होगी। जो पीडित है, उसके लिए औषधि और पथ्य का प्रबन्ध करो और शरीर के द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करो। जो भूखा है, उसके लिए खाने का प्रबन्ध करो। तुमने तो इतना पढा-लिखा है, अत जो अज्ञानी हैं, उसे बातो-बातो में जहाँ तक हो सके समझाओ। यदि तुम मेरा परामर्श मानो, तो इस प्रकार लोगों की यथासाध्य सेवा करो। यदि तुम इस प्रकार कर सकोगे, तो तुम्हारे मन को अवश्य शान्ति मिलेगी।"

युवक बोला, "अच्छा, महाराज, मान लीजिए, मैं एक रोगी की सेवा करने के लिए गया; किन्तु उसके लिए रात भर जगने से, समय पर भोजन आदि न करने तथा अधिक परिश्रम से यदि मैं स्वयं ही रोगग्रस्त हो जाऊँ तो?"

स्वामीजी अब तक उस युवक के साथ स्नेहपूर्ण स्वर में सहानुभूति के साथ बातें कर रहे थे। इस अन्तिम वाक्य से ऐसा जान पड़ा कि वे कुछ विरक्त-से हो गए। वे कुछ व्यंग-भाव से कह उठे, "देखो जी, रोगी की सेवा करने के लिए जाने पर तुम अपने रोग की आशंका कर रहे हो, किन्तु तुम्हारी बातचीत सुनने पर और तुम्हारा मनोभाव देखने पर मुझे तो मालूम पड़ता है—और जो यहाँ उपस्थित हैं, वे भी खूब अच्छी तरह समझ सकते हैं—कि तुम ऐसे रोगी की सेवा कभी भी नहीं करोगे, जिससे तुम्हें खुद को ही रोग हो जाय।"

युवक के साथ और कोई विशेष बातचीत नहीं हुई। हम लोग समझ गए, यह व्यक्ति 'कैंची' श्रेणी का है; अर्थात् जैसे कैंची जो कुछ भी मिले, उसी को काट देती है, उसी प्रकार एक श्रेणी के मनुष्य हैं, जो कोई सदुपदेश सुनने से ही उसमें त्रुटि निकालते हैं, जिनकी निगाह इन उपदिष्ट विषयों में दोष देखने के लिए बड़ी पैनी रहती है। ऐसे लोगों से चाहे कितनी ही अच्छी बात क्यों न कहिए, सभी की बात वे तर्क द्वारा काट देते हैं।

एक दूसरे दिन मास्टर महाशय (श्रीरामकृष्णवचनामृत के प्रणेता श्री 'म') के साथ वार्तालाप हो रहा है। मास्टर महाशय कह रहे हैं, "देखो, तुम जो दया, परोपकार और जीव-सेवा आदि की बातें करते हो, वे तो माया के राज्य की बातें हैं। जब वेदान्त-मत में मानव का परम लक्ष्य मुक्ति-लाभ और माया-बन्धन का विच्छेद है, तो फिर उन सब माया-व्यापारों में लिप्त होकर लोगों को दया, परोपकार आदि विषयों का उपदेश देने से क्या लाभ?"

स्वामीजी ने [illegible] उत्तर दिया, "मुक्ति भी क्या माया

के अन्तर्गत नहीं है ? आत्मा तो नित्य-मुक्त है, फिर उसकी मुक्ति के लिए चेष्टा क्यों ? "

मास्टर महाशय चुप हो गए।

मैं समझ गया, मास्टर महाशय दया, सेवा, परोपकार आदि सब छोड़कर, सभी प्रकार के अधिकारियों के लिए केवल जप-तप, ध्यान-धारणा या भक्ति का ही एकमात्र साधन के रूप में समर्थन कर रहे थे; किन्तु स्वामीजी के मतानुसार, एक प्रकार के अधिकारियों के लिए इन सबका अनुष्ठान जिस तरह मुक्ति-लाभ के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार ऐसे भी बहुत से अधिकारी हैं, जिनके लिए परोपकार, दान, सेवा आदि आवश्यक है। एक को उड़ा देने से दूसरे को भी उड़ा देना होगा, एक को स्वीकार करने पर दूसरे को भी स्वीकार करना पड़ेगा। स्वामीजी के इस प्रत्युत्तर से यह बात अच्छी तरह समझ में आ गई कि मास्टर महाशय दया, सेवा आदि को 'माया' शब्द से उड़ाकर और जप-ध्यान आदि को ही मुख्य रखकर संकीर्ण भाव का परिपोषण कर रहे थे। परन्तु स्वामीजी का उदार हृदय और छुरे की धार के समान उनकी तीक्ष्ण बुद्धि उसे सहन न कर सकी। अपनी अद्भुत युक्ति से उन्होंने मुक्ति-लाभ की
को भी माया के अन्तर्गत ही निर्धारि किया ए
आदि के साथ उन
पथिक को भी

उन्हीं के समान इस ग्रन्थ को साधक-जीवन में विशेष सहायक समझकर सर्वदा इस पर विचार किया करते थे। स्वामीजी इस ग्रन्थ के इतने अनुरागी थे कि उस समय के साहित्य-कल्पद्रुम नामक मासिक-पत्र में उसकी एक प्रस्तावना लिखकर उन्होंने 'ईसा-अनुसरण' नाम से उसका सुन्दर अनुवाद करना भी आरम्भ कर दिया था। प्रस्तावना पढ़ने से ही यह मालूम हो जाता है कि स्वामीजी इस ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार को कितनी गम्भीर श्रद्धा से देखते थे। वास्तव में, उसमें विवेक, वैराग्य, दीनता, दास्य, भक्ति आदि के ऐसे सैकड़ों ज्वलन्त उपदेश हैं कि जो उसे पढ़ेंगे, उनके हृदय में वे भाव कुछ-न-कुछ अवश्य उद्दीपित होंगे। उपस्थित व्यक्तियों में से एक सज्जन यह जानने के लिए कि स्वामीजी का इस समय उस ग्रन्थ के प्रति कैसा भाव है, उस ग्रन्थ में वर्णित दीनता के उपदेश का प्रसंग उठाते हुए बोले, "अपने को इस प्रकार अत्यन्त हीन समझे बिना आध्यात्मिक उन्नति कैसे हो सकती है?" स्वामीजी यह सुनकर कहने लगे, "हम लोग हीन कैसे? हम लोगों के लिए अन्धकार कहाँ? हम लोग तो ज्योति के राज्य में वास करते हैं, हम लोग तो ज्योति के तनय हैं!"

उनका इस प्रकार प्रत्युत्तर सुनकर मैं समझ गया कि, स्वामीजी उक्त ग्रन्थ-निर्दिष्ट इन प्राथमिक साधन-सोपानों को पार कर साधना-राज्य की कितनी उच्च भूमि में पहुँच गए हैं।

हम लोग यह विशेष रूप से देखते थे कि संसार की अत्यन्त सामान्य घटनाएँ भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि को धोखा नहीं दे सकती थीं। वे उन घटनाओं की भी सहायता से उच्च धर्म-भाव का प्रचार करने की चेष्टा करते थे।

श्रीरामकृष्ण देव के भतीजे श्रीयुत रामलाल चट्टोपाध्याय

(मठ के पुराने साधुगण जिन्हें नामदाम दादा कहकर पुकारते हैं) दक्षिणेश्वर से एक दिन स्वामीजी से मिलने आए। स्वामीजी ने एक कुरसी मँगवाकर उनसे बैठने के लिए अनुरोध किया और स्वयं टहलने लगे। श्रद्धाविनम्र दादा उनसे कुछ संकुचित होकर कहने लगे, "आप बैठें, आप बैठें।" पर स्वामीजी उन्हें किसी तरह छोड़नेवाले नहीं थे। बहुत कह-सुनकर दादा को कुरसी पर बिठाया और स्वयं टहलते-टहलते कहने लगे, "गुरुवत् गुरुपुत्रेषु।" (गुरु के पुत्र एवं सम्बन्धियों के साथ गुरु-जैसा ही व्यवहार करना चाहिए।) मैंने देखा, इतना ऐश्वर्य, इतना मान पाकर भी हमारे स्वामीजी को थोड़ासा भी अभिमान नहीं हुआ है। यह भी समझा, गुरुभक्ति इसी तरह की जाती है।

बहुत से छात्र आए हैं। स्वामीजी एक कुरसी पर बैठे हुए हैं। सभी उनके पास बैठकर उनकी दो-चार बातें सुनने के लिए उत्सुक हैं। वहाँ पर और कोई आसन नहीं है, जिस पर स्वामीजी लड़कों से बैठने को कह सकें, इसलिए उन लोगों को भूमि पर बैठना पड़ा। ऐसा मालूम पड़ा कि स्वामीजी मन में सोच रहे हैं, यदि इनके बैठने के लिए कोई आसन होता, तो अच्छा है। किन्तु ऐसा लगा कि दूसरे ही क्षण उनके हृदय में दूसरा भाव उत्पन्न हो गया। वे बोल उठे, "सो ठीक है, तुम लोग ठीक बैठे हो, थोड़ी-थोड़ी तपस्या करना भी ठीक है।"

एक दिन अपने मुहल्ले के चंडीचरण वर्द्धन को साथ लेकर मैं स्वामीजी के पास गया। चंडी बाबू Hindu Boys' School नामक एक संस्था के मालिक थे। वहाँ अँगरेजी स्कूल की तृतीय श्रेणी तक पढ़ाया जाता था। वे पहले से ही खूब ईश्वरानुरागी थे, बाद में स्वामीजी की वक्तृता आदि पढ़कर उनके प्रति

अत्यन्त श्रद्धालु हो गए। पहले कभी-कभी धर्म-साधन के लिए व्याकुल हो संसार परित्याग करने की भी उन्होंने चेष्टा की थी, किन्तु उसमें सफल नहीं हो सके। कुछ दिन शौक के लिए थिएटर में अभिनय आदि एवं एक-आध नाटक की रचना भी की थी। ये भावुक व्यक्ति थे। विख्यात प्रजातन्त्रवादी एडवर्ड कारपेन्टर जब भारत-भ्रमण कर रहे थे, उस समय उनके साथ चंडी बाबू का परिचय और बातचीत हुई थी। उन्होंने Adam's Peak to Elephanta नामक अपने ग्रन्थ में चंडी बाबू के साथ हुए वार्तालाप का संक्षिप्त विवरण और उनका एक चित्र भी दिया था।

चंडी बाबू आकर भक्ति-भाव से स्वामीजी को प्रणाम कर पूछने लगे, "स्वामीजी, किस प्रकार के व्यक्ति को गुरु बनाना चाहिए?"

स्वामीजी—"जो तुम्हें तुम्हारा भूत-भविष्य बतला सकें, वही तुम्हारा गुरु है। देखो न, मेरे गुरु ने मेरा भूत-भविष्य सब बतला दिया था।"

चंडी बाबू ने पूछा, "अच्छा स्वामीजी, कौपीन पहनने में क्या काम-दमन में कुछ विशेष सहायता मिलती है?"

स्वामीजी—"थोड़ी-बहुत सहायता मिल सकती है। किन्तु इस वृत्ति के प्रबल हो उठने पर कौपीन भी भला क्या करेगा? जब तक मन भगवान में तन्मय नहीं हो जाता, तब तक किसी भी बाह्य उपाय से काम पूर्णतया रोका नहीं जा सकता। फिर भी बात क्या है जानते हो, जब तक मनुष्य उस अवस्था को पूर्णतया लाभ नहीं कर लेता, तब तक अनेक प्रकार के बाह्य उपायों के अवलम्बन की चेष्टा स्वभावतः ही किया करता है।"

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में चंडी बाबू स्वामीजी से बहुत से

प्रश्न पूछने लगे। स्वामीजी भी बड़े सरल ढंग से सभी प्रश्नों का उत्तर देने लगे। चडी बाबू धर्म-साधना के लिए आन्तरिक भाव से प्रयत्न करते थे, किन्तु गृहस्थ होने के कारण इच्छानुसार नहीं कर पाते थे। यद्यपि उनकी यह दृढ धारणा थी कि ब्रह्मचर्य धर्म-साधन के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है, तथापि वे पूर्ण रूप से उसका अनुष्ठान नहीं कर पाते थे। वे सर्वदा लड़कों को लेकर अध्यापन-कार्य में ही लगे रहते थे, इसलिए धर्म-साधन और सत्-शिक्षा के अभाव एवं कुसगति के कारण अत्यन्त अल्प अवस्था में ही उन लोगों का ब्रह्मचर्य किस तरह नष्ट हो जाता है, इसे वे अच्छी तरह जानते थे, और किस उपाय से उसे रोका जाय, इसकी शिक्षा उन बच्चों को देने के लिए वे सर्वदा प्रयत्नशील रहते थे। किन्तु 'स्वयमसिद्ध कथ परान् साधयेत्'—अर्थात् स्वयं असिद्ध होकर दूसरों को कैसे सिद्ध किया जा सकता है? अतएव किसी भी तरह अपने या दूसरे के भीतर ब्रह्मचर्य-भाव को प्रविष्ट करने में असमर्थ हो समय-समय पर वे अत्यन्त दु:खित हो जाते थे। इस समय परम ब्रह्मचारी स्वामीजी की ज्वलन्त उपदेशावली और ओजस्विनी वाणी सुनकर अकस्मात् उनके हृदय में यह भाव उदित हुआ कि ये महापुरुष एक बार इच्छा करने पर मेरे तथा बालकों के भीतर उस प्राचीन ब्रह्मचर्य-भाव को निश्चित ही उद्दीप्त कर सकते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि ये एक भावुक व्यक्ति थे। वे एकाएक पूर्वोक्त रूप से उत्तेजित हो अँगरेजी में चिल्लाकर बोल उठे, "Oh Great Teacher! tear up the veil of hypocrisy and teach the world the one thing needful—how to conquer lust." अर्थात् "हे आचार्यवर, जिस

कपटता के आवरण से अपने यथार्थ स्वभाव को छिपाकर हम लोग दूसरों के निकट अपने को शिष्ट, शान्त या सभ्य बतलाने की चेष्टा करते हैं, उसे आप अपनी दिव्य शक्ति के बल से छिन्न करके दूर कर दें एवं लोगों के भीतर जो घोर काम-प्रवृत्ति विद्यमान है, उसका जिससे समूल विनाश हो सके, वैसी शिक्षा दें।"

स्वामीजी ने चंडी बाबू को शान्त और आश्वस्त किया।

बाद में एडवर्ड कारपेन्टर का प्रसंग उपस्थित हुआ। स्वामीजी ने कहा, "लन्दन में ये बहुधा मेरे पास आते रहते थे। और भी बहुत से समाजवादी, प्रजातन्त्रवादी आदि आया करते थे। ये सब वेदान्तोक्त धर्म में अपने-अपने मत की पोषकता पाकर उसके प्रति विशेष आकृष्ट होते थे।"

स्वामीजी उक्त कारपेन्टर साहब की Adam's Peak t Elephanta नामक पुस्तक पढ़ चुके थे। इसी समय उक्त पुस्तक में दी हुई चंडी बाबू की तस्वीर उन्हें याद आई; वे बोले "आपका चेहरा तो पुस्तक में पहले ही देख चुका हूँ।" औ भी कुछ देर बातचीत करने के बाद सन्ध्या हो जाने के कारण स्वामीजी विश्राम के लिए उठे। उठने के समय चंडी बाबू को सम्बोधित करके बोले, "चंडी बाबू, आप तो बहुत से लड़कों के संसर्ग में आते हैं। क्या आप मुझे कुछ सुन्दर-सुन्दर लड़के दे सकते हैं?" शायद चंडी बाबू कुछ अन्यमनस्क थे। स्वामीजी के कथन का सम्पूर्ण मर्म न समझ सकने के कारण स्वामीजी जब विश्राम-घर में प्रवेश कर रहे थे, तब आगे बढ़कर उनके पास आकर बोले, "सुन्दर लड़कों की आप क्या बात कर रहे थे?"

स्वामीजी ने कहा, "जिनकी मुखाकृति सुन्दर हो, ऐसे लड़के मैं नहीं चाहता — मैं तो चाहता हूँ खूब स्वस्थ शरीर, कर्मठ

एवं सत्प्रकृतियुक्त कुछ लड़के। उन्हें *train* करना (शिक्षा देना) चाहता हूँ, जिससे वे अपनी मुक्ति के लिए और जगत् के कल्याण के लिए प्रस्तुत हो सकें।"

और एक दिन जाकर देखा, स्वामीजी टहल रहे हैं, श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ('विवेकानन्दजी के संग में' नामक पुस्तक के रचयिता) स्वामीजी के साथ खूब घनिष्ठ भाव से बातें कर रहे हैं। स्वामीजी से एक प्रश्न पूछने की हमें अत्यधिक उत्कण्ठा हुई। प्रश्न यह था—अवतार और मुक्त या सिद्ध पुरुष में क्या अन्तर है? हमने शरद बाबू से स्वामीजी के पास इस प्रश्न को उठाने के लिए विशेष अनुरोध किया। अतः उन्होंने स्वामीजी से यह प्रश्न पूछा। हम लोग शरद बाबू के पीछे-पीछे यह सुनने के लिए गए कि देखें, स्वामीजी इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं। स्वामीजी उस प्रश्न के सम्बन्ध में बिना कोई प्रकट उत्तर दिए कहने लगे, "विदेह-मुक्ति ही सर्वोच्च अवस्था है—यही मेरा सिद्धान्त है। जब मैं साधनावस्था में भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण कर रहा था, उस समय कितनी निर्जन गुहाओं में अकेले बैठकर कितना समय बिताया है, मुक्ति प्राप्त नहीं हुई यह सोचकर कितनी बार प्रायोपवेशन द्वारा देह त्याग देने का भी संकल्प किया है, कितना ध्यान, कितना साधन-भजन किया है! किन्तु अब मुक्ति-लाभ के लिए वह 'विजातीय' आग्रह नहीं रहा। इस समय तो मन में केवल यही होता है कि जब तक पृथ्वी पर एक भी मनुष्य अमुक्त है, तब तक मुझे अपनी मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं।"

मैं तो स्वामीजी की उक्त वाणी सुनकर उनके हृदय की अपार करुणा की बात सोचकर विस्मित हो गया और सोचने

लगा, इन्होंने क्या अपना दृष्टान्त देकर अवतार-पुरुषों का लक्षण समझाया है? क्या ये भी एक अवतार हैं? सोचा, स्वामीजी अब मुक्त हो गए हैं, इसी लिए मालूम होता है, उन्हें अपनी मुक्ति के लिए अब आग्रह नहीं है।

और एक दिन सन्ध्या के बाद मैं और खगेन (स्वामी विमलानन्द) स्वामीजी के पास गए। हरमोहन बाबू (श्रीरामकृष्ण देव के भक्त) हम लोगों को स्वामीजी के साथ विशेष रूप से परिचित कराने के लिए बोले, "स्वामीजी, ये दोनों आपके खूब admirors (प्रशंसक) हैं, और वेदान्त का अध्ययन भी खूब करते हैं।" हरमोहन बाबू के वाक्य का प्रथम अंश सम्पूर्ण सत्य होने पर भी, द्वितीयांश कुछ अतिरंजित था, क्योंकि हम लोगों ने उस समय केवल गीता का ही अध्ययन किया था। हम लोगों ने वेदान्त के छोटे-छोटे कुछ ग्रन्थ और दो-एक उपनिषदों का अनुवाद एक-आध बार देखा था, परन्तु इन सब शास्त्रों की हम लोगों ने विद्यार्थी के समान उत्तम रूप से आलोचना नहीं की थी और न मूल संस्कृत ग्रन्थों को भाष्य आदि की सहायता से पढ़ा था। जो हो, स्वामीजी वेदान्त की बात सुनकर बोल उठे, "उपनिषद् कुछ पढ़ा है?"

मैंने कहा, "जी हाँ, थोड़ा-बहुत देखा है।"

स्वामीजी ने पूछा, "कौनसा उपनिषद् पढ़ा है?"

मैंने मन के भीतर टटोलकर और कुछ न पाकर कह डाला, "कठ उपनिषद् पढ़ा है।"

स्वामीजी ने कहा, "अच्छा, कठ ही सुनाओ; कठ उपनिषद् खूब grand (सुन्दर) है—कवित्व से भरा है।"

क्या मुसीबत! स्वामीजी ने शायद समझा कि मुझे कठ-

उपनिषद् कण्ठस्थ है, इसी लिए मुझसे सुनाने के लिए कहा। मैंने उसके संस्कृत मन्त्रों को यद्यपि एक-आध बार देखा था, किन्तु कभी भी अर्थानुसन्धानपूर्वक पढ़ने और मुखाग्र करने की चेष्टा नहीं की थी। सो बड़ी मुश्किल में पड़ गया। क्या करूँ? इसी समय एक बात स्मरण आई। इसके कुछ वर्ष पहले से ही प्रत्यह नियमपूर्वक थोड़ा-थोड़ा गीता का पाठ किया करता था। इस कारण गीता के अधिकांश श्लोक मुझे कण्ठस्थ थे। सोचा, जैसे भी हो, कुछ शास्त्रीय श्लोकों की आवृत्ति यदि न करूँ, तो फिर स्वामीजी को मुँह दिखाते न बनेगा। अतएव बोल उठा, "कठ तो मुखस्थ नहीं है—गीता से कुछ सुनाता हूँ।"

स्वामीजी बोले, "अच्छा, वही सही।"

तब गीता के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम भाग से "स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या" से आरम्भ करके अर्जुन कृत सम्पूर्ण स्तव स्वामीजी को सुना दिया। स्वामीजी उत्साह देते हुए "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कहने लगे।

इसके दूसरे दिन मैं अपने मित्र राजेन्द्र घोष के पास गया। उससे मैंने कहा, "भाई, कल उपनिषद् के कारण स्वामीजी के सम्मुख बड़ा लज्जित हुआ। तुम्हारे पास यदि कोई उपनिषद् हो, तो जेब में लेते चलो। यदि कल की तरह उपनिषद् की बात निकालेंगे, तो पढ़ने से ही हो जायगा।" राजेन्द्र के पास प्रसन्नकुमार शास्त्री कृत ईश-केन-कठ आदि उपनिषद् और उनके बंगानुवाद का एक गुटका संस्करण था। उसे जेब में रखकर हम लोग स्वामीजी के दर्शनार्थ चले। आज अपराह्न में स्वामीजी का कमरा लोगों से भरा हुआ था। जो सोचा था, वही हुआ। आज भी,-यह तो ठीक स्मरण नहीं कि कैसे, पर कठोपनिषद् का

ही प्रसंग उठा। मैंने झट जेब से उपनिषद् निकाला और उसे शुरू से पढ़ना आरम्भ किया। पाठ के बीच में स्वामीजी नचिकेता की श्रद्धा की कथा—जिस श्रद्धा के बल से वे निर्भीक चित्त से यम-सदन जाने के लिए भी साहसी हुए थे—कहने लगे। जब नचिकेता के द्वितीय वर स्वर्ग-प्राप्ति की कथा का पाठ प्रारम्भ हुआ, तब स्वामीजी ने उस स्थल को अधिक न पढ़कर कुछ-कुछ छोड़कर तृतीय वर का प्रसग पढ़ने के लिए कहा।

नचिकेता के प्रश्न—मृत्यु के बाद लोगों का सन्देह—शरीर छूट जाने पर कुछ रहता है या नहीं;—उसके बाद यम का नचिकेता को प्रलोभन दिखाना और नचिकेता का दृढ़ भाव से उन सबों का प्रत्याख्यान,—इन सब स्थलों का पाठ हो जाने के बाद स्वामीजी ने अपनी स्वभाव-सुलभ ओजस्विनी भाषा में क्या-क्या कहा——क्षीण स्मृति सोलह वर्षों में उसका कुछ भी चिह्न न रख सकी।

किन्तु इन दो दिनों के उपनिषद्-प्रसंग में स्वामीजी की उपनिषद् के प्रति श्रद्धा और अनुराग का कुछ अंश मेरे अन्तःकरण में भी संचरित हो गया, क्योंकि उसके दूसरे ही दिन से जब कभी सुयोग पाता, परम श्रद्धा के साथ उपनिषद् पढ़ने की चेष्टा करता था। और यह कार्य आज भी कर रहा हूँ। विभिन्न समय में उनके श्रीमुख से उच्चारित, अपूर्व स्वर, लय और तेजस्विता के साथ पठित उपनिषद् के एक-एक मन्त्र मानो आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं। जब परचर्चा मे मग्न हो आत्मचर्चा भूल जाता हूँ, तो सुन पाता हूँ—उनके उस सुपरिचित किन्नरकण्ठ से उच्चारित उपनिषद्-वाणी की दिव्य गंभीर घोषणा—

"तमेवैकं जानथ आत्मानम्, अन्या वाचो विमुञ्चथ, अमृतस्यैषसेतुः।"*—'एकमात्र उस आत्मा को ही पहचानो, अन्य सब बातें छोड़ दो—वही अमृत का सेतु है।'

जब आकाश में घोर घटाएँ छा जाती हैं और दामिनी दमकने लगती है, उस समय मानो सुन पाता हूँ—स्वामीजी उस आकाशस्थ सौदामिनी की ओर इंगित करते हुए कह रहे हैं—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥"†

—'वहाँ सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता—चन्द्रमा और तारे भी नहीं, ये सब विद्युत् भी वहाँ प्रकाशित नहीं होतीं—फिर इस सामान्य अग्नि की भला बात ही क्या? उनके प्रकाशित होने से फिर सभी प्रकाशित होते हैं, उनका प्रकाश इन सबको प्रकाशित करता है।'

पुनः, जब तत्त्वज्ञान को असाध्य जान हृदय हताश हो जाता है, तब जैसे सुन पाता हूँ—स्वामीजी आनन्दोत्फुल्ल हो उपनिषद् की आश्वासन देनेवाली इस वाणी की आवृत्ति कर रहे हैं—

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

* * *

---

* मुण्डकोपनिषद्, २-२-५

† कठोपनिषद्, २-२-१५

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"†

—'हे अमृत के पुत्रो, हे दिव्यधामनिवासियो, तुम लोग सुनो। मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो आदित्य के समान ज्योतिर्मय और अज्ञानान्धकार से अतीत है। उसको जानने से ही लोग मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं—मुक्ति का और दूसरा कोई मार्ग नही।'

अस्तु, और एक दिन की घटना का विषय यहाँ पर संक्षेप में कहूँगा। इस दिन की घटना का शरद बाबू ने 'विवेकानन्दजी के संग में' नामक अपने ग्रन्थ में विस्तृत रूप से वर्णन किया है।

मैं उस दिन दोपहर में ही जा उपस्थित हुआ था। देखा, कमरे में बहुत से गुजराती पण्डित बैठे हैं, स्वामीजी उनके पास बैठकर धाराप्रवाह रूप से संस्कृत भाषा में धर्मविषयक विचार कर रहे है। भक्ति-ज्ञान आदि अनेक विषयो की चर्चा हो रही थी। इसी बीच मे हल्ला हो उठा। ध्यान देने पर समझा कि स्वामीजी संस्कृत भाषा में बोलते-बोलते कोई एक व्याकरण की भूल कर गए। इस पर पण्डितगण ज्ञान-भक्ति-विवेक-वैराग्य आदि विषय की चर्चा छोड़कर इस व्याकरण की त्रुटि को लेकर, 'हमने स्वामीजी को हरा दिया' यह कहते हुए खूब शोर-गुल मचा रहे हैं और प्रसन्न हो रहे हैं। उस समय श्रीरामकृष्ण देव की वह बात याद आ गई—'चील उड़ती तो खूब ऊपर है, किन्तु उसकी दृष्टि रहती है मरे पशुओ पर!' जो हो, स्वामीजी

† श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३-८

किंचित् भी विचलित नहीं हुए और कहा, "दासोऽहं पण्डितानां क्षन्तव्यमेतत्स्खलनम्।" थोड़ी देर के बाद स्वामीजी उठ गए और पण्डितगण गंगाजी में हाथ-मुँह धोने के लिए गए। मैं भी बगीचे में घूमते-घूमते गंगाजी के तट पर गया। वहाँ पण्डितगण स्वामीजी के सम्बन्ध में आलोचना कर रहे थे। सुना, वे कह रहे थे—"स्वामीजी उस प्रकार के पण्डित नहीं हैं, परन्तु उनकी आंखों में एक मोहिनी शक्ति है। उसी शक्ति के बल से उन्होंने अनेक स्थानों में दिग्विजय की है।"

सोचा, पण्डितों ने तो ठीक ही समझा है। आंखों में यदि मोहिनी शक्ति न होती, तो क्या यों ही इतने विद्वान, धनी-मानी, प्राच्य-पाश्चात्य देश के विभिन्न प्रकृति के स्त्री-पुरुष इनके पीछे-पीछे दास के समान दौड़ते! यह तो विद्या के कारण नहीं, रूप के कारण नहीं, ऐश्वर्य के भी कारण नहीं—यह सब उनकी आंखों की उस मोहिनी शक्ति के ही कारण है।

पाठकगण! आंखों में यह मोहिनी शक्ति स्वामीजी को कहाँ से मिली, इसे जानने का यदि कौतूहल हो, तो अपने श्रीगुरु के साथ उनके दिव्य सम्बन्ध एवं उनके अपूर्व साधन-वृत्तान्त पर श्रद्धा के साथ एक बार मनन करो—इसका रहस्य मालूम हो जायगा।

सन् १८९७, अप्रैल मास का अन्तिम भाग। आलमबाजार मठ। अभी चार-पांच दिन ही हुए हैं, घर छोड़कर मठ में रह रहा हूँ। पुराने सन्यासियों में केवल स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी निर्मलानन्द और स्वामी सुबोधानन्द हैं। स्वामीजी दार्जिलिंग से आए—साथ में स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी योगानन्द, स्वामीजी के मद्रासी शिष्य आलासिंगा पेरुमल, किड़ी और जि० जि० आदि हैं।

स्वामी नित्यानन्द, कुछ दिन हुए, स्वामीजी द्वारा सन्यास धर्म में दीक्षित हुए हैं। इन्होंने स्वामीजी से कहा, "इस समय बहुत से नए-नए लड़के संसार छोड़कर मठवासी हुए हैं, उनके लिए एक निर्दिष्ट नियम से शिक्षा-दान की व्यवस्था करना आवश्यक होगा।"

स्वामीजी उनके अभिप्राय का अनुमोदन करते हुए बोले, "हाँ, हाँ, नियम करना तो अच्छा ही है। बुलाओ सभी को।" सब आकर बड़े कमरे में जमा हुए। तब स्वामीजी ने कहा, "कोई एक व्यक्ति लिखना शुरू करो, मैं बोलता जाता हूँ।" उस समय सब एक दूसरे को ठेलकर आगे करने लगे—कोई अग्रसर नहीं होना चाहता था, अन्त में मुझे ठेलकर आगे कर दिया। उस समय मठ में लिखाई-पढ़ाई के प्रति साधारणतया एक प्रकार की उपेक्षा थी। यही धारणा प्रबल थी कि साधन-भजन करके भगवान का साक्षात्कार करना ही एकमात्र सार है; लिखने-पढ़ने से तो मान और यश की इच्छा होती है। जो भगवान के द्वारा आदिष्ट होकर प्रचार-कार्य आदि करेंगे, उनके लिए भले वह आवश्यक हो, पर साधकों के लिए तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है, उलटे वह हानिकारक ही है। जो हो, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि स्वभाव से मैं जरा forward और लापरवाह हूँ—मैं अग्रसर हो गया। स्वामीजी ने एक बार आकाश की ओर देखकर पूछा, 'यह क्या रहेगा?' (अर्थात् क्या मैं ब्रह्मचारी होकर यहाँ रहूँगा, अथवा दो-एक दिन मठ में घूमने के लिए ही आया हूँ और बाद में चला जाऊँगा।) सन्यासियों में से एक ने कहा, "हाँ।" तब मैंने कागज-कलम आदि ठीक से लेकर गणेश का आसन ग्रहण किया। नियम लिखाने से पहले स्वामीजी

कहने लगे, "देखो, हम ये सब नियम बना तो रहे हैं, किन्तु पहले हमें समझ लेना होगा कि इन नियमों के पालन का मूल लक्ष्य क्या है। हम लोगों का मूल उद्देश्य है—सभी नियमों से परे होना। तो भी, नियम करने का अर्थ यही है कि हममें स्वभावतः बहुत से कुनियम हैं—सुनियमों के द्वारा उन कुनियमों को दूर कर देने के बाद हमें सभी नियमों से परे जाने की चेष्टा करनी होगी। जैसे काँटे से काँटा निकालकर अन्त में दोनों ही काँटों को फेंक दिया जाता है।"

उसके बाद स्वामीजी ने नियम लिखाने प्रारम्भ किए। प्रातःकाल और सायंकाल में जप-ध्यान, मध्याह्न में विश्राम के बाद स्वयं होकर शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन और अपराह्न में सबको मिलकर एक अध्यापक के निकट किसी निर्दिष्ट शास्त्र-ग्रन्थ का श्रवण करना होगा—यह व्यवस्था हुई। प्रत्येक दिन प्रातः और सायं थोड़ा-थोड़ा 'डेल्सर्ट' व्यायाम करना होगा, यह भी निश्चित हुआ। अन्त में लिखाना समाप्त कर स्वामीजी ने कहा, "देख, इन नियमों को जरा देख-भालकर अच्छी तरह प्रतिलिपि करके रख ले—देखना, यदि कोई नियम negative (निषेधवाचक) भाव से लिखा गया हो, तो उसे positive (विधिवाचक) कर देना।"

इस अन्तिम आदेश का पालन करते समय हमें जरा कठिनाई मालूम हुई। स्वामीजी का उपदेश था कि किसी को खराब कहना, उसके विरुद्ध आलोचना करना, उसके दोष दिखाना, उससे 'तुम ऐसा मत करो, वैसा मत करो' कहकर negative (निषेधात्मक) उपदेश देना—इन सबसे उसकी उन्नति में विशेष सहायता नहीं होती, किन्तु उसको यदि एक आदर्श दिखा दिया जाय, तो

फिर उसकी उन्नति सरलता से हो सकती है, उसके दोष अपने आप चले जाते हैं। यही स्वामीजी का अभिप्राय था।

*   *   *   *

आज अपराह्न में बड़ा कमरा लोगों से भरा हुआ है। स्वामीजी उनके बीच अपूर्व शोभा धारण कर बैठे हुए हैं। अनेक प्रसंग चल रहे हैं। यहाँ हम लोगों के मित्र विजयकृष्ण बसु (आजकल अलीपुर अदालत के विख्यात वकील) महाशय भी उपस्थित हैं। उस समय विजय बाबू समय-समय पर अनेक सभाओं में और कभी-कभी कांग्रेस में खड़े होकर अँगरेजी में व्याख्यान दिया करते थे। उनकी इस व्याख्यान-शक्ति का उल्लेख किसी ने स्वामीजी के समक्ष किया। इस पर स्वामीजी ने कहा, "सो बहुत अच्छा है। अच्छा, यहाँ पर बहुत से लोग एकत्रित हैं—जरा खड़े होकर एक व्याख्यान तो दो। Soul (आत्मा) के सम्बन्ध में तुम्हारी जो idea (धारणा) है, उसी पर कुछ कहो।" विजय बाबू अनेक प्रकार का बहाना बनाने लगे। स्वामीजी एवं और भी बहुत से लोग उनसे खूब आग्रह करने लगे। १५ मिनट तक अनुरोध करने पर भी जब कोई उनके संकोच को दूर करने में सफल नहीं हुआ, तब अन्ततोगत्वा हार मानकर उन लोगों की दृष्टि विजय बाबू से हटकर मेरे ऊपर पड़ी। मैं मठ में सहयोग देने से पूर्व कभी-कभी धर्म के सम्बन्ध में बँगला भाषा में व्याख्यान देता था, और हम लोगों का एक 'डिबेटिंग क्लब' (वाद-विवाद समिति) भी था—उसमें अँगरेजी बोलने का अभ्यास करता था। मेरे सम्बन्ध में इन सब बातों का किसी ने उल्लेख किया ही था कि बस, मेरे ऊपर बाजी पलटी। पहले ही कह चुका हूँ, मैं बहुत-कुछ लापरवाह-सा था। Fools rush

in where angels fear to tread. (जहाँ देवता भी जाने में भयभीत होते हैं, वहाँ मूर्ख घुस पडते हैं।) मुझसे उन्हें अधिक कहना नहीं पडा। मैं एकदम खडा हो गया और बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद के अन्तर्गत आत्मतत्त्व को लेकर आत्मा के सम्बन्ध में लगभग आध घंटे तक जो मुँह में आया, बोलता गया। भाषा या व्याकरण की भूल हो रही है अथवा भाव का असामजस्य हो रहा है, इस सबका मैंने विचार ही नहीं किया। दया के सागर स्वामीजी मेरी इस चपलता पर थोड़ा भी विरक्त न हो मुझे उत्साहित करने लगे। मेरे बाद स्वामीजी द्वारा अभी-अभी सन्यासाश्रम में दीक्षित स्वामी प्रकाशानन्द* लगभग दस मिनट तक आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में बोले। वे स्वामीजी की व्याख्यान-शैली का अनुकरण कर बड़े गम्भीर स्वर में अपना वक्तव्य कहने लगे। उनके व्याख्यान की भी स्वामीजी ने खूब प्रशंसा की।

अहा! स्वामीजी सचमुच ही किसी का दोष नहीं देखते थे। वे जिसमें जो भी कुछ गुण या शक्ति देखते, उसी के अनुसार उसे उत्साह देकर, जिससे उसके भीतर की अव्यक्त शक्तियाँ प्रकाशित हो जायें, इसी की चेष्टा करते थे। किन्तु, पाठक, आप लोग इससे ऐसा न समझ बैठें कि वे सबको सभी कार्यों में प्रश्रय देते थे। क्योंकि अनेक बार देख चुका हूँ, लोगों के, विशेषत: अपने अनुगामी गुरुभ्राता और शिष्यों के, दोष दिखलाने में

* ये सन्फ्रान्सिस्को (यू. एस. ए) की वेदान्त-समिति के अध्यक्ष थे। अमेरिका में इनका कार्य-काल १९०६ ईसवी से १९२७ ईसवी तक था। ८ जुलाई सन् १८७४ को कलकत्ते में इनका जन्म हुआ था एवं १३ फरवरी १९२७ ई. को सन्फ्रान्सिस्को की वेदान्त-समिति में इनका देहत्याग हुआ।

समय-समय पर वे कठोर रूप भी धारण करते थे। किन्तु वह हम लोगों के दोषों को हटाने के लिए—हम लोगों को सावधान करने के लिए ही होता था, हमें निरुत्साह करने या हम लोगों के समान केवल परच्छिद्रान्वेषण-वृत्ति को सार्थक करने के लिए नहीं। ऐसा उत्साह और भरोसा देनेवाला हम अब और कहाँ पाएँगे? कहाँ पाएँगे ऐसा व्यक्ति, जो शिष्यवर्ग को लिख सके, "I want each one of my children to be a hundred times greater than I could ever be. Everyone of you must be a giant—*must*, that is my word."—'मैं चाहता हूँ कि तुम लोगों में से प्रत्येक, मैं जितना हो सकूँ, तदपेक्षा सौगुना बड़ा होवे। तुम लोगों में से प्रत्येक को आध्यात्मिक दिग्गज होना पड़ेगा—होना ही होगा, न होने से नहीं बनेगा।'

*   *   *   *

इसी समय स्वामीजी द्वारा इँगलैण्ड में दिए गए ज्ञानयोग-सम्बन्धी व्याख्यानों को लन्दन से ई. टी. स्टर्डी साहब छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के आकार में प्रकाशित करने लगे। मठ में भी उनकी एक-एक दो-दो प्रतियाँ आने लगीं। स्वामीजी उस समय दार्जिलिंग से नहीं लौटे थे। हम लोग विशेष आग्रह के साथ अद्वैत-तत्त्व के अपूर्व व्याख्यारूप, उद्दीपना से भरे उन व्याख्यानों को पढ़ने लगे। वृद्ध स्वामी अद्वैतानन्द अँगरेजी अच्छी तरह नहीं जानते थे, किन्तु उनकी यह विशेष इच्छा थी कि नरेन्द्र ने वेदान्त के सम्बन्ध में विलायत में क्या कहकर लोगों को मुग्ध किया है, यह सुनें। अतः उनके अनुरोध से हम लोग उन्हें उन पुस्तिकाओं को पढ़कर, उनका अनुवाद करके सुनाने लगे। एक दिन स्वामी

प्रेमानन्द नए सन्यासियों और ब्रह्मचारियों से बोले, "तुम लोग स्वामीजी के इन व्याख्यानों का बँगला अनुवाद करो न।" तब हममें से कई लोगों ने अपनी-अपनी इच्छानुसार उन पुस्तिकाओं में से एक-एक को चुन लिया और उनका अनुवाद करना आरम्भ कर दिया। इसी बीच स्वामीजी लौट आए। एक दिन स्वामी प्रेमानन्दजी स्वामीजी से बोले, "इन लडकों ने आपके व्याख्यानों का अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया है।" बाद में हम लोगों को लक्ष्य करके कहा, "तुम लोगों में से कौन क्या अनुवाद कर रहा है, यह स्वामीजी को सुनाओ।" तब हम सबों ने अपना-अपना अनुवाद लाकर स्वामीजी को थोडा-थोडा सुनाया। स्वामीजी ने भी अनुवाद के बारे में अपने कुछ विचार प्रकट किए, और अमुक शब्द का अमुक अनुवाद ठीक रहेगा, इस प्रकार दो-एक बातें भी बताईं। एक दिन स्वामीजी के पास केवल मैं ही बैठा था, उन्होंने अचानक मुझसे कहा, "राजयोग का अनुवाद कर न।" मेरे समान अनुपयुक्त व्यक्ति को स्वामीजी ने इस प्रकार आदेश कैसे दिया? मैं उसके बहुत दिन पहले से ही राजयोग का अभ्यास करने की चेष्टा किया करता था। इस योग के ऊपर कुछ दिन मेरा इतना अनुराग हुआ था कि भक्ति, ज्ञान और *कर्मयोग* को मानो एक प्रकार से अवज्ञा से ही देखने लगा था। सोचता था, मठ के साधु लोग योग-याग कुछ भी नहीं जानते, इसी लिए वे योग-साधना में उत्साह नहीं देते। पर जब मैंने स्वामीजी का 'राजयोग' ग्रन्थ पढ़ा, तो मालूम पड़ा कि स्वामीजी केवल राजयोग में ही पटु नहीं, वरन् भक्ति, ज्ञान प्रभृति अन्यान्य योगों के साथ उसका सम्बन्ध भी उन्होंने अत्यन्त सुन्दर ढंग से दिखलाया है। राजयोग के सम्बन्ध में मेरी जो

धारणा थी, उसका उत्तम स्पष्टीकरण भी मुझे उनके उस 'राजयोग' ग्रन्थ मे मिला। स्वामीजी के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा का यह भी एक कारण हुआ। तो क्या इस उद्देश से कि राजयोग का अनुवाद करने से उस ग्रन्थ की चर्चा उत्तम रूप से होगी और उससे मेरी ही आध्यात्मिक उन्नति में सहायता पहुँचेगी, उन्होंने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया ? अथवा बंग देश में यथार्थ राजयोग की चर्चा का अभाव देखकर, सर्वसाधारण के भीतर इस योग के यथार्थ मर्म का प्रचार करने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया ? उन्होने स्व० प्रमदादास मित्र को एक पत्र में लिखा था, "वंगाल में राजयोग की चर्चा का बिलकुल अभाव है। जो कुछ है, वह भी नाक दबाना इत्यादि छोड़ और कुछ नहीं।"

जो भी हो, स्वामीजी की आज्ञा पा, अपनी अनुपयुक्तता आदि की बात मन में न सोचकर उसका अनुवाद करने में उसी समय लग गया।

*　　*　　*　　*

एक दिन अपराह्न काल में बहुत से लोग बैठे हुए थे। स्वामीजी के मन में आया कि गीता-पाठ होना चाहिए। गीता लाई गई। सभी दत्तचित्त होकर सुनने लगे कि देखें, स्वामीजी गीता के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। गीता के सम्बन्ध में उस दिन उन्होंने जो कुछ भी कहा था, वह सब दो-चार दिन के बाद ही स्वामी प्रेमानन्दजी की आज्ञा से मैंने स्मरण करके यथासाध्य लिपिबद्ध कर लिया। वह पहले 'गीता-तत्त्व' के नाम से 'उद्बोधन' के द्वितीय वर्ष में प्रकाशित हुआ और बाद में 'भारत में विवेकानन्द' पुस्तक के अन्तर्भूत कर दिया गया। अतएव उन बातों की पुनरावृत्ति कर प्रस्तुत लेख का कलेवर बढ़ाने की इच्छा

नही है; किन्तु उस दिन गीता की व्याख्या के सिलसिले में स्वामीजी ने जो एक नई ही भावधारा बहाई थी, उसी को यहाँ लिपिवद्ध करने की इच्छा है। हम लोग महापुरुषों की वचनावली को अनेक बार यथासम्भव लिपिवद्ध तो करते हैं, किन्तु जिन भावों से अनुप्राणित होकर वे वाक्य उनके श्रीमुख से निकलते हैं, वे प्रायः लिपिवद्ध नही रहते। फिर ऐसे महापुरुषों के साक्षात् संस्पर्श में आए बिना हजार वर्णन करने पर भी लोग उनकी बातों के भीतर का गूढ़ मर्म नही समझ सकते। तो भी, जिन्हे उन लोगो के साथ साक्षात् सम्पर्क में आने का सौभाग्य नही मिला है, उनके लिए उन महापुरुषो के सम्बन्ध मे लिपिवद्ध थोड़ीसी भी बाते बहुत आदर की वस्तु होती है, और उनकी आलोचना एवं ध्यान से उनका कल्याण होता है। पाठकवर्ग! उन महापुरुष की जिस आकृति को मैं मानो आज भी अपनी आँखों के सामने देख रहा हूँ, वह मेरे इस क्षुद्र प्रयास से आपके मनश्चक्षु के सामने भी उद्भासित हो। उनकी कथा का स्मरण कर मेरे मनश्चक्षु के सामने आज उन्ही महापण्डित, महातेजस्वी, महाप्रेमी की तस्वीर आ खड़ी हुई है। आप लोग भी एक बार देश-काल के व्यवधान का उल्लघन कर मेरे साथ हमारे स्वामीजी के दर्शन करने की चेष्टा करें।

हाँ, तो जब उन्होने व्याख्या आरम्भ की, उस समय वे एक कठोर समालोचक मालूम पड़े। कृष्ण, अर्जुन, व्यास, कुरुक्षेत्र की लड़ाई आदि की ऐतिहासिकता के बारे में सन्देह की कारण-परम्परा का विवरण जब वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव से करने लगे, तब बीच-बीच मे ऐसा बोध होने लगा कि इस व्यक्ति के सामने तो कठोर समालोचक भी हार मान जाय। इतनि

धारणा थी, उसका उत्तम स्पष्टीकरण भी मुझे उनके उस 'राजयोग' ग्रन्थ मे मिला। स्वामीजी के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा का यह भी एक कारण हुआ। तो क्या इस उद्देश से कि राजयोग का अनुवाद करने से उस ग्रन्थ की चर्चा उत्तम रूप से होगी और उससे मेरी ही आध्यात्मिक उन्नति में सहायता पहुँचेगी, उन्होंने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया ? अथवा बंग देश में यथार्थ राजयोग की चर्चा का अभाव देखकर, सर्वसाधारण के भीतर इस योग के यथार्थ मर्म का प्रचार करने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया ? उन्होंने स्व० प्रमदादास मित्र को एक पत्र में लिखा था, "बंगाल में राजयोग की चर्चा का बिलकुल अभाव है। जो कुछ है, वह भी नाक दबाना इत्यादि छोड़ और कुछ नहीं।"

जो भी हो, स्वामीजी की आज्ञा पा, अपनी अनुपयुक्तता आदि की बात मन में न सोचकर उसका अनुवाद करने मे उसी समय लग गया।

* * * *

एक दिन अपराह्न काल में बहुत से लोग बैठे हुए थे। स्वामीजी के मन में आया कि गीता-पाठ होना चाहिए। गीता लाई गई। सभी दत्तचित्त होकर सुनने लगे कि देखें, स्वामीजी गीता के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। गीता के सम्बन्ध में उस दिन उन्होंने जो कुछ भी कहा था, वह सब दो-चार दिन के बाद ही स्वामी प्रेमानन्दजी की आज्ञा से मैंने स्मरण करके यथासाध्य लिपिबद्ध कर लिया। वह पहले 'गीता-तत्त्व' के नाम से 'उद्बोधन' के द्वितीय वर्ष में प्रकाशित हुआ और बाद में 'भारत में विवेकानन्द' पुस्तक के अन्तर्भूत कर दिया गया। अतएव उन बातों की पुनरावृत्ति कर प्रस्तुत लेख का कलेवर बढ़ाने की इच्छा

नही है; किन्तु उस दिन गीता की व्याख्या के सिलसिले में स्वामीजी ने जो एक नई ही भावधारा बहाई थी, उसी को यहाँ लिपिबद्ध करने की इच्छा है। हम लोग महापुरुषो की वचनावली को अनेक बार यथासम्भव लिपिबद्ध तो करते है, किन्तु जिन भावों से अनुप्राणित होकर वे वाक्य उनके श्रीमुख से निकलते है, वे प्रायः लिपिबद्ध नही रहते। फिर ऐसे महापुरुषो के साक्षात् संस्पर्श में आए बिना हजार वर्णन करने पर भी लोग उनकी बातो के भीतर का गूढ़ मर्म नही समझ सकते। तो भी, जिन्हे उन लोगों के साथ साक्षात् सम्पर्क मे आने का सौभाग्य नही मिला है, उनके लिए उन महापुरुषो के सम्बन्ध मे लिपिबद्ध थोड़ीसी भी बातें बहुत आदर की वस्तु होती है, और उनकी आलोचना एवं ध्यान से उनका कल्याण होता है। पाठकवर्ग! उन महा-पुरुष की जिस आकृति को मै मानो आज भी अपनी आँखो के सामने देख रहा हूँ, वह मेरे इस क्षुद्र प्रयास से आपके मनश्चक्षु के सामने भी उद्भासित हो। उनकी कथा का स्मरण कर मेरे मनश्चक्षु के सामने आज उन्ही महापण्डित, महातेजस्वी, महाप्रेमी की तस्वीर आ खड़ी हुई है। आप लोग भी एक बार देश-काल के व्यवधान का उल्लघन कर मेरे साथ हमारे स्वामीजी के दर्शन करने की चेष्टा करे।

हाँ, तो जब उन्होने व्याख्या आरम्भ की, उस समय वे एक कठोर समालोचक मालूम पड़े। कृष्ण
क्षेत्र की लड़ाई
कारण-परम्परा
लगे,

धारणा थी, उसका उत्तम स्पष्टीकरण भी मुझे उनके उस 'राजयोग' ग्रन्थ में मिला। स्वामीजी के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा का यह भी एक कारण हुआ। तो क्या इस उद्देश से कि राजयोग का अनुवाद करने से उस ग्रन्थ की चर्चा उत्तम रूप से होगी और उससे मेरी ही आध्यात्मिक उन्नति में सहायता पहुँचेगी, उन्होंने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया? अथवा बंग देश में यथार्थ राजयोग की चर्चा का अभाव देखकर, सर्वसाधारण के भीतर इस योग के यथार्थ मर्म का प्रचार करने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया? उन्होंने स्व० प्रमदादास मित्र को एक पत्र में लिखा था, "बंगाल में राजयोग की चर्चा का बिलकुल अभाव है। जो कुछ है, वह भी नाक दबाना इत्यादि छोड़ और कुछ नहीं।"

जो भी हो, स्वामीजी की आज्ञा पा, अपनी अनुपयुक्तता आदि की बात मन में न सोचकर उसका अनुवाद करने में उसी समय लग गया।

नही है; किन्तु उस दिन गीता की व्याख्या के सिलसिले में स्वामीजी ने जो एक नई ही भावधारा बहाई थी, उसी को यहाँ लिपिबद्ध करने की इच्छा है। हम लोग महापुरुषों की वचनावली को अनेक बार यथासम्भव लिपिबद्ध तो करते है, किन्तु जिन भावों से अनुप्राणित होकर वे वाक्य उनके श्रीमुख से निकलते है, वे प्रायः लिपिबद्ध नही रहते। फिर ऐसे महापुरुषों के साक्षात् संस्पर्श में आए बिना हजार वर्णन करने पर भी लोग उनकी बातों के भीतर का गूढ मर्म नही समझ सकते। तो भी, जिन्हें उन लोगों के साथ साक्षात् सम्पर्क मे आने का सौभाग्य नही मिला है, उनके लिए उन महापुरुषों के सम्बन्ध में लिपिबद्ध थोड़ीसी भी बाते बहुत आदर की वस्तु होती है, और उनकी आलोचना एवं ध्यान से उनका कल्याण होता है। पाठकवर्ग! उन महापुरुष की जिस आकृति को मै मानो आज भी अपनी आँखों के सामने देख रहा हूँ, वह मेरे इस क्षुद्र प्रयास से आपके मनश्चक्षु के सामने भी उद्भासित हो। उनकी कथा का स्मरण कर मेरे मनश्चक्षु के सामने आज उन्ही महापण्डित, महातेजस्वी, महाप्रेमी की तस्वीर आ खड़ी हुई है। आप लोग भी एक बार देश-काल के व्यवधान का उल्लघन कर मेरे साथ हमारे स्वामीजी के दर्शन करने की चेष्टा करे।

हाँ, तो जब उन्होंने व्याख्या आरम्भ की, उस समय वे एक कठोर समालोचक मालूम पड़े। कृष्ण, अर्जुन, व्यास, कुरुक्षेत्र की लड़ाई आदि की ऐतिहासिकता के बारे मे सन्देह की कारण-परम्परा का विवरण जब वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव से करने लगे, तब बीच-बीच में ऐसा बोध होने लगा कि [illegible]
सामने तो कठोर समालोच[illegible]

स्वामीजी ने ऐतिहासिक तत्त्व का इस प्रकार तीव्र विश्लेषण किया, किन्तु इस विषय में वे अपना मत विशेष रूप से प्रकाशित किए बिना ही आगे समझाने लगे कि धर्म के साथ इस ऐतिहासिक गवेषणा का कोई सम्पर्क नहीं है। ऐतिहासिक गवेषणा में शास्त्र उल्लिखित व्यक्ति यदि काल्पनिक भी ठहरें, तो भी उससे सनातन धर्म को कोई ठेस नही पहुँचती। अच्छा, यदि धर्म-साधना के साथ ऐतिहासिक गवेषणा का कोई सम्पर्क न हो, तो ऐतिहासिक गवेषणा का क्या फिर कोई मूल्य नहीं है?—इसका उत्तर देते हुए स्वामीजी ने समझाया कि निर्भीक भाव से इन सब ऐतिहासिक सत्यानुसन्धानों का भी एक विशेष प्रयोजन है। उद्देश्य महान् होने पर भी उसके लिए मिथ्या इतिहास की रचना करने का कोई प्रयोजन नही! प्रत्युत यदि मनुष्य सभी विषयों में सत्य का सम्पूर्ण रूप से आश्रय लेने के लिए प्राणपण से यत्न करे, तो वह एक दिन सत्यस्वरूप भगवान का भी साक्षात्कार कर सकता है। उसके बाद उन्होंने गीता के मूल तत्त्व सर्व-धर्म-समन्वय और निष्काम कर्म की सक्षेप में व्याख्या करके श्लोक पढ़ना आरम्भ किया। द्वितीय अध्याय के "क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ" इत्यादि में, युद्ध के लिए अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण के जो उत्तेजनात्मक वचन हैं, उन्हें पढ़कर वे स्वयं सर्वसाधारण को जिस भाव से उपदेश देते थे, वह उन्हें स्मरण हो आया—"नैतत्त्वय्युपपद्यते"—यह तो तुम्हें शोभा नही देता—तुम सर्वशक्तिमान हो, तुम ब्रह्म हो, तुममें जो अनेक प्रकार के विपरीत भाव देख रहा हूँ, वह सब तो तुम्हें शोभा नहीं देता। मसीहा के समान ओजस्विनी भाषा में इन सब तत्त्वों को समझाते-समझाते उनके भीतर से मानो तेज निकलने लगा। स्वामीजी कहने लगे, "जब सबको ब्रह्म-दृष्टि से

देखना है, तो महापापी को भी घृणा-दृष्टि से देखना उचित न होगा।" "महापापी से घृणा मत करो" यह कहते-कहते स्वामीजी के मुख पर जो भावान्तर हुआ, वह छवि आज भी मेरे मानस-पटल पर अंकित है—मानो उनके श्रीमुख से प्रेम शतधारा बन बह निकला। श्रीमुख मानो प्रेम से दीप्त हो उठा—उसमें कठोरता का लेश-मात्र भी नहीं।

इस एक श्लोक में ही सम्पूर्ण गीता का सार निहित देखकर स्वामीजी ने अन्त में यह कहते हुए उपसंहार किया, "इस एक श्लोक को पढ़ने से ही समग्र गीता के पाठ का फल होता है।"

* * * *

एक दिन स्वामीजी ने ब्रह्मसूत्र लाने के लिए कहा। कहने लगे, "ब्रह्मसूत्र के भाष्य को बिना पढ़े इस समय स्वतन्त्र रूप से तुम सब लोग सूत्रों का अर्थ समझने की चेष्टा करो।" प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सूत्रों का पढ़ना प्रारम्भ हुआ। स्वामीजी शुद्ध रूप से संस्कृत उच्चारण करने की शिक्षा देने लगे, कहने लगे, "संस्कृत भाषा का उच्चारण हम लोग ठीक-ठीक नहीं करते। इसका उच्चारण तो इतना सरल है कि थोड़ी चेष्टा करने से ही सब लोग संस्कृत का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। हम लोग बचपन से ही दूसरे प्रकार का उच्चारण करने के आदी हो गए हैं, इसी लिए इस प्रकार का उच्चारण अभी हम लोगों को इतना नया और कठिन मालूम होता है। हम लोग 'आत्मा' शब्द का उच्चारण 'आत्मा' न करके 'आत्ता' क्यों करते हैं? महर्षि पतंजलि अपने महाभाष्य में कहते हैं—'अपशब्द उच्चारण करनेवाला म्लेच्छ है।' अतः उनके मत से

हम सब तो म्लेच्छ ही हुए।" तब नवीन ब्रह्मचारी और सन्यासीगण एक-एक करके, जहाँ तक बन सका ठीक-ठीक उच्चारण करके ब्रह्मसूत्र पढ़ने लगे। बाद में स्वामीजी वह उपाय बतलाने लगे, जिससे सूत्र का प्रत्येक शब्द लेकर उसका अक्षरार्थ किया जा सके। उन्होंने कहा, "कौन कहता है कि ये सूत्र केवल अद्वैतमत के परिपोषक हैं? शंकर अद्वैतवादी थे, इसलिए उन्होंने सभी सूत्रों की केवल अद्वैतमत में व्याख्या करने की चेष्टा की है, किन्तु तुम लोग सूत्र का अक्षरार्थ करने की चेष्टा करना—व्यास का यथार्थ अभिप्राय क्या है, यह समझने की चेष्टा करना। उदाहरण के रूप में देखो—'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति'*—मेरे मतानुसार इस सूत्र की ठीक-ठीक व्याख्या यह है कि यहाँ अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों ही वाद भगवान वेदव्यास द्वारा इंगित हुए हैं।

स्वामीजी एक ओर जैसे गम्भीर प्रकृतिवाले थे, उसी तरह दूसरी ओर रसिक भी थे। पढ़ते-पढ़ते "कामाच्च नानुमानापेक्षा"† सूत्र आया। स्वामीजी इस सूत्र को लेकर स्वामी प्रेमानन्द के निकट इसका विकृत अर्थ करके हँसने लगे। सूत्र का सच्चा अर्थ यह है—जब उपनिषद् में, जगत्कारण के प्रसंग में 'सोऽकामयत' (उन्होंने अर्थात् उन्हीं जगत्कारण ने कामना की) इस तरह का वचन है, तब 'अनुमानगम्य' (अचेतन) प्रधान या प्रकृति को जगत्कारणरूप में स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। जिन्होंने शास्त्र-ग्रन्थों का अपनी-अपनी अद्भुत रुचि के अनुसार कुत्सित अर्थ करके ऐसे पवित्र सनातन धर्म को घोर विकृत कर डाला है और ग्रन्थकार का जो अर्थ किसी भी काल

* ब्रह्मसूत्र—१।१।१९

† ब्रह्मसूत्र—१।१।१८

में अभिप्रेत नहीं था, ग्रन्थकार ने जिसे स्वप्न में भी नहीं सोचा था, ऐसे सभी विषयों को जिन्होंने ग्रन्थ-प्रतिपाद्य बातें सिद्ध करते हुए धर्म को शिष्टजनों से 'दूरात्परिहर्तव्य' कर डाला है, क्या स्वामीजी उन्हीं लोगों का तो उपहास नहीं कर रहे थे? अथवा, वे जैसे कभी-कभी कहा करते थे, कठिन शुष्क ग्रन्थ की धारणा कराने के लिए वे बीच-बीच मे साधारण मन के उपयुक्त रसिकता लाकर दूसरों को अनायास ही उस ग्रन्थ की धारणा करा देते थे, तो सम्भवतः कही वही चेष्टा तो नही कर रहे थे?

जो भी हो, पाठ चलने लगा। बाद में "शास्त्रदृष्टया तूपदेशो वामदेववत्"* सूत्र आया। इस सूत्र की व्याख्या करके स्वामीजी स्वामी प्रेमानन्द की ओर देखकर कहने लगे, "देखो, तुम्हारे ठाकुर† जो अपने को भगवान कहते थे, सो इसी भाव से कहते थे।" पर यह कहकर ही स्वामीजी दूसरी ओर मुँह फेरकर कहने लगे, "किन्तु उन्होंने मुझसे अपने अन्तिम समय मे कहा था—'जो राम, जो कृष्ण, वही अब रामकृष्ण; तेरे वेदान्त की दृष्टि से नही।'" यह कहकर दूसरा सूत्र पढ़ने के लिए कहा।

यहाँ पर इस सूत्र के सम्बन्ध मे कुछ व्याख्या करना आवश्यक है। कौपीतकी उपनिषद् मे इन्द्र-प्रतर्दन-सवाद नामक एक आख्यायिका है। उसमें लिखा है, प्रतर्दन नामक एक राजा ने देवराज इन्द्र को सन्तुष्ट किया। इन्द्र ने उसे वर देना चाहा। इस पर प्रतर्दन ने उनसे यह वर माँगा कि आप मानव के लिए जो सबसे अधिक कल्याणकारी समझते हैं, वही वर मुझे दें। इस पर इन्द्र ने उसे उपदेश दिया—"मां विजानीहि"—'मुझे

* ब्रह्मसूत्र—१।१।३०

† भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस देव।

हम सब तो म्लेच्छ ही हुए।" तब नवीन ब्रह्मचारी और संन्यासीगण एक-एक करके, जहाँ तक बन सका ठीक-ठीक उच्चारण करके ब्रह्मसूत्र पढ़ने लगे। बाद में स्वामीजी वह उपाय बतलाने लगे, जिससे सूत्र का प्रत्येक शब्द लेकर उसका अक्षरार्थ किया जा सके। उन्होंने कहा, "कौन कहता है कि ये सूत्र केवल अद्वैतमत के परिपोषक हैं? शंकर अद्वैतवादी थे, इसलिए उन्होंने सभी सूत्रों की केवल अद्वैतमत में व्याख्या करने की चेष्टा की है, किन्तु तुम लोग सूत्र का अक्षरार्थ करने की चेष्टा करना—व्यास का यथार्थ अभिप्राय क्या है, यह समझने की चेष्टा करना। उदाहरण के रूप में देखो—'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति'*—मेरे मतानुसार इस सूत्र की ठीक-ठीक व्याख्या यह है कि यहाँ अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों ही वाद भगवान वेदव्यास द्वारा इंगित हुए हैं।

स्वामीजी एक ओर जैसे गम्भीर प्रकृतिवाले थे, उसी तरह दूसरी ओर रसिक भी थे। पढ़ते-पढ़ते "कामाच्च नानुमानापेक्षा"† सूत्र आया। स्वामीजी इस सूत्र को लेकर स्वामी प्रेमानन्द के निकट इसका विकृत अर्थ करके हँसने लगे। सूत्र का सच्चा अर्थ यह है—जब उपनिषद् में, जगत्कारण के प्रसंग में 'सोऽकामयत' (उन्होंने अर्थात् उन्ही जगत्कारण ने कामना की) इस तरह का वचन है, तब 'अनुमानगम्य' (अचेतन) प्रधान या प्रकृति को जगत्कारणरूप में स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। जिन्होंने शास्त्र-ग्रन्थों का अपनी-अपनी अद्भुत रुचि के अनुसार कुत्सित अर्थ करके ऐसे पवित्र सनातन धर्म को घोर विकृत कर डाला है और ग्रन्थकार का जो अर्थ किसी भी काल

* ब्रह्मसूत्र—१।१।१९

† ब्रह्मसूत्र—१।१।१८

में अभिप्रेत नहीं था, ग्रन्थकार ने जिसे स्वप्न में भी नही सोचा था, ऐसे सभी विषयो को जिन्होने ग्रन्थ-प्रतिपाद्य बातें सिद्ध करते हुए धर्म को शिष्टजनो से 'दूरात्परिहर्तव्य' कर डाला है, क्या स्वामीजी उन्हीं लोगों का तो उपहास नही कर रहे थे ? अथवा, वे जैसे कभी-कभी कहा करते थे, कठिन शुष्क ग्रन्थ की धारणा कराने के लिए वे बीच-बीच में साधारण मन के उपयुक्त रसिकता लाकर दूसरों को अनायास ही उस ग्रन्थ की धारणा करा देते थे, तो सम्भवत: कही वही चेष्टा तो नही कर रहे थे ?

जो भी हो, पाठ चलने लगा। बाद मे "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्"* सूत्र आया। इस सूत्र की व्याख्या करके स्वामीजी स्वामी प्रेमानन्द की ओर देखकर कहने लगे, "देखो, तुम्हारे ठाकुर ! जो अपने को भगवान कहते थे, सो इसी भाव से कहते थे।" पर यह कहकर ही स्वामीजी दूसरी ओर मुँह फेरकर कहने लगे, "किन्तु उन्होंने मुझसे अपने अन्तिम समय में कहा था—'जो राम, जो कृष्ण, वही अब रामकृष्ण; तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।'" यह कहकर दूसरा सूत्र पढ़ने के लिए कहा।

यहाँ पर इस सूत्र के सम्बन्ध मे कुछ व्याख्या करना आवश्यक है। कौपीतकी उपनिषद् मे इन्द्र-प्रतर्दन-संवाद नामक एक आख्यायिका है। उसमें लिखा है, प्रतर्दन नामक एक राजा ने देवराज इन्द्र को सन्तुष्ट किया। इन्द्र ने उसे वर देना चाहा। इस पर प्रतर्दन ने उनसे यह वर माँगा कि आप मानव के लिए जो सबसे अधिक कल्याणकारी समझते [illegible] दें। पर इन्द्र ने उसे [illegible]

जानो।' यहाँ पर सूत्रकार ने यह प्रश्न उठाया है कि 'मुझे' के अर्थ में इन्द्र ने किसको लक्ष्य किया है। सम्पूर्ण आख्यायिका अध्ययन करने पर पहले अनेक सन्देह होते हैं—'मुझे' कहने से स्थान-स्थान पर ऐसा ज्ञात होता है कि उसका आशय 'देवता' से है, कहीं-कही पर ऐसा मालूम होता है कि उसका आशय 'प्राण' से है, कही पर 'जीव' से, तो कहीं पर 'ब्रह्म' से। यहाँ पर अनेक प्रकार के विचार द्वारा सूत्रकार सिद्धान्त करते है कि इस स्थल में 'मुझे' पद का आशय है 'ब्रह्म' से। 'शास्त्र-दृष्टया' इत्यादि सूत्र के द्वारा सूत्रकार ऐसा एक उदाहरण दिखलाते है, जिससे इन्द्र का उपदेश इसी अर्थ में सगत होता है। उपनिषद् के एक स्थल मे है कि वामदेव ऋषि ब्रह्मज्ञान लाभ कर बोले थे—'मै मनु हुआ हूँ, मैं सूर्य हुआ हूँ।' इन्द्र ने भी इसी प्रकार शास्त्र-प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर कहा था—'मां विजानीहि' (मुझे जानो)। यहाँ पर 'मै' और 'ब्रह्म' एक ही बात है।

स्वामीजी भी स्वामी प्रेमानन्द से कहने लगे, "परमहंस देव जो कभी-कभी अपने को भगवान कहकर निर्देश करते थे, सो वह इस ब्रह्मज्ञान की अवस्था प्राप्त होने के कारण ही करते थे। वास्तव मे वे तो सिद्धपुरुष मात्र थे, अवतार नहीं।" पर यह बात कहकर ही उन्होने धीरे से एक दूसरे व्यक्ति से कहा, "श्रीरामकृष्ण स्वयं अपने सम्बन्ध में कहते थे, 'मै केवल ब्रह्मज्ञ पुरुष ही नही हूँ, मै अवतार हूँ'।" अतः, जैसा कि हमारे एक मित्र कहा करते थे, श्रीरामकृष्ण को एक साधु या सिद्धपुरुष मात्र नहीं कहा जा सकता; यदि उनकी बातों पर विश्वास करना है, तो उन्हें अवतार कहकर मानना होगा, नही तो ढोंगी कहना होगा।

जो हो. स्वामीजी की बात से मेरा एक विशेष उपकार हुआ।

सामान्य अँगरेजी पढकर चाहे और कुछ सीखा हो या न सीखा हो, किन्तु सन्देह करना तो अच्छी तरह सीखा था। मेरी यह धारणा थी कि महापुरुषों के शिष्यगण अपने गुरु की बड़ाई कर उन्हें अनेक प्रकार की कल्पना और अतिरंजना का विषय बना देते है। परन्तु स्वामीजी की अद्भुत अकपटता और सत्यनिष्ठा को देखकर, वे भी किसी प्रकार की अतिरंजना कर सकते है, यह धारणा एकदम दूर हो गई। स्वामीजी के वचन ध्रुव सत्य हैं यही धारणा हुई। इसलिए उनके वाक्य में परमहंस देव के सम्बन्ध मे एक नवीन प्रकाश पाया। जो राम, जो कृष्ण, वही अब रामकृष्ण—यह बात उन्होंने स्वयं कही है; अभी यही बात हम समझने की चेष्टा कर रहे है। स्वामीजी मे अपार दया थी, वे हम लोगों से सन्देह छोड़ देने को नही कहते थे, चट से किसी की बात में विश्वास कर लेने के लिए कभी नही कहा। वे तो कहते थे, "इस अद्भुत रामकृष्ण-चरित्र की तुम लोग अपनी विद्या-बुद्धि के द्वारा जहाँ तक हो सके आलोचना करो, इसका अध्ययन करो—मैं तो इसका एक-लक्षांश भी समझ न पाया। उनको समझने की जितनी चेष्टा करोगे, उतना ही सुख पाओगे, उतना ही उनमे डूब जाओगे।"

* * * *

स्वामीजी एक दिन हम सबको पूजा-गृह में ले जाकर साधन-भजन सिखलाने लगे। उन्होंने कहा, "पहले सब लोग आसन लगाकर बैठो; चिन्तन करो—मेरा आसन दृढ़ हो, यह आसन अचल-अटल हो, [illegible]

पार होऊँगा।"

सहायता से मैं संसार को पार करूँगा।" इस प्रकार कुछ देर तक चिन्तन करने के बाद स्वामीजी फिर कहने लगे, "अब इस प्रकार चिन्तन करो कि मेरे निकट से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चहुं दिशाओं में प्रेम का प्रवाह वह रहा है—हृदय के भीतर से सम्पूर्ण जगत् के लिए शुभकामना हो रही है—सभी का कल्याण हो, सभी स्वस्थ और नीरोग हों। इस प्रकार चिन्तन करने के बाद कुछ देर प्राणायाम करना, अधिक नहीं, तीन प्राणायाम करने से ही काफी है। इसके बाद हृदय में अपने-अपने इष्टदेव की मूर्ति का चिन्तन और मन्त्र-जप लगभग आधघंटे तक करना।" सब लोग स्वामीजी के उपदेशानुसार चिन्तन आदि की चेष्टा करने लगे।

इस प्रकार सामूहिक साधनानुष्ठान मठ में दीर्घ काल तक होता रहा, एवं स्वामीजी की आज्ञा से स्वामी तुरीयानन्द नवीन संन्यासियों और ब्रह्मचारियों को लेकर बहुत समय तक, "इस बार इस प्रकार चिन्तन करो, उसके बाद ऐसा करो," इस तरह बतला-बतलाकर और स्वयं अनुष्ठान कर स्वामीजी द्वारा बतलाई गई साधना-प्रणाली का अभ्यास कराते थे।

\+ \+ * *

एक दिन सबेरे ९-१० बजे मैं एक कमरे में बैठकर कुछ कर रहा था, उसी समय सहसा तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) आकर बोले, "स्वामीजी से दीक्षा लोगे?" मैंने कहा, "जी हाँ।" इसके पहले मैंने कुलगुरु या और किसी के पास किसी प्रकार मन्त्र-दीक्षा नहीं ली थी। एक योगी के पास प्राणायाम आदि कुछ योग-क्रियाओं का मैंने तीन वर्ष तक साधन किया था और उससे बहुत कुछ शारीरिक उन्नति और मन की स्थिरता भी मुझे प्राप्त हुई थी, किन्तु वे गृहस्थाश्रम का अवलम्बन करना

अत्यावश्यक बतलाते थे, और प्राणायाम आदि योग-क्रिया को छोड़कर ज्ञान, भक्ति आदि अन्यान्य मार्गों को बिलकुल व्यर्थ कहते थे। इस प्रकार की कट्टरता मुझे बिलकुल अच्छी नहीं लगती थी। दूसरी ओर, मठ के कोई-कोई संन्यासी और उनके भक्तगण योग का नाम सुनते ही बात को हँसी में उड़ा देते थे। 'उससे विशेष कुछ नहीं होता, परमहंस देव उसके उतने पक्षपाती नहीं थे,' इत्यादि बातें मैं उन लोगों से सुना करता था। पर जब मैंने स्वामीजी का राजयोग पढ़ा, तो समझा कि इस ग्रन्थ के प्रणेता जैसे योगमार्ग के समर्थक हैं, वैसे ही अन्यान्य मार्ग के प्रति भी श्रद्धालु हैं, अतएव वे कट्टर तो हैं ही नहीं, अपितु इस प्रकार के उदार भावसम्पन्न आचार्य मुझे कभी भी दृष्टिगोचर नहीं हुए; तिस पर वे संन्यासी भी हैं;—अतएव उनके प्रति यदि मेरे हृदय में विशेष श्रद्धा हो, तो उसमें आश्चर्य ही क्या? बाद में मैंने विशेष रूप से जाना कि परमहंस देव साधारणतया प्राणायाम आदि योग-क्रिया का उपदेश नहीं दिया करते थे। वे जप और ध्यान पर ही विशेष रूप से जोर देते थे। वे कहा करते थे, "ध्यानावस्था के प्रगाढ़ होने पर अथवा भक्ति की प्रबलता आने पर प्राणायाम स्वयमेव हो जाता है, इन सब दैहिक क्रियाओं का अनुष्ठान करने से अनेक बार मन देह की ओर आकृष्ट हो जाता है।" किन्तु अन्तरंग शिष्यों से वे योग के उच्च अंगों की साधना कराते थे, उन्हें स्पर्श करके अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल से उन लोगों की कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर देते थे, एवं षट्चक्र के विभिन्न चक्रों में मन की स्थिरता की सुविधा के लिए समय-समय पर शरीर के किसी विशिष्ट अंग में सुई टोंचकर वहाँ मन को स्थिर करने के लिए कहते थे। स्वामीजी

सहायता से मैं संसार को पार करूँगा।" इस प्रकार कुछ देर तक चिन्तन करने के बाद स्वामीजी फिर कहने लगे, "अब इस प्रकार चिन्तन करो कि मेरे निकट से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं में प्रेम का प्रवाह बह रहा है—हृदय के भीतर से सम्पूर्ण जगत् के लिए शुभकामना हो रही है—सभी का कल्याण हो, सभी स्वस्थ और नीरोग हों। इस प्रकार चिन्तन करने के बाद कुछ देर प्राणायाम करना, अधिक नहीं, तीन प्राणायाम करने से ही काफी है। इसके बाद हृदय में अपने-अपने इष्टदेव की मूर्ति का चिन्तन और मन्त्र-जप लगभग आधघंटे तक करना।" सब लोग स्वामीजी के उपदेशानुसार चिन्तन आदि की चेष्टा करने लगे।

इस प्रकार सामूहिक साधनानुष्ठान मठ में दीर्घ काल तक होता रहा, एवं स्वामीजी की आज्ञा से स्वामी तुरीयानन्द नवीन संन्यासियों और ब्रह्मचारियों को लेकर बहुत समय तक, "इस बार इस प्रकार चिन्तन करो, उसके बाद ऐसा करो," इस तरह बतला-बतलाकर और स्वयं अनुष्ठान कर स्वामीजी द्वारा बतलाई गई साधना-प्रणाली का अभ्यास कराते थे।

पहले ही उन्होंने पूछा, "तुझे साकार अच्छा लगता है
निराकार ?"

मैंने कहा, "कभी साकार अच्छा लगता है, कभी निराकार

इसके उत्तर में वे बोले, "वैसा नहीं; गुरु समझ सकते
किसका क्या मार्ग है; हाथ देखूँ।" ऐसा कहकर मेरा दाहि
हाथ कुछ देर तक लेकर थोड़ी देर जैसे ध्यान करने लगे। उस
बाद हाथ छोड़कर बोले, "तूने कभी घट-स्थापना करके पूजा
है ?" घर छोड़ने के कुछ पहले घट-स्थापना करके मैंने बहुत
तक कोई पूजा की थी। वह बात मैंने उनसे बताई। तब
देवता का मन्त्र बताकर उन्होंने उसे अच्छी तरह मुझे समझा दि
और कहा, "इस मन्त्र से तेरा कल्याण होगा। और घट-स्थाप
करके पूजा करने से तेरा कल्याण होगा।" उसके बाद
सम्बन्ध में एक भविष्य-वाणी करके, उन्होंने सामने पड़े हुए
फलों को गुरु-दक्षिणा के रूप में देने के लिए मुझसे कहा।

मैंने देखा, यदि मुझे भगवान के शक्ति-स्वरूप किन्ही देव
की उपासना करनी हो, तो मुझे स्वामीजी ने जिन देवता के म
का उपदेश दिया है, वे ही देवता मेरी प्रकृति के साथ पूर्णरूपेण
खाते है। सुना था—सच्चे गुरु शिष्य की प्रकृति को समझ
मन्त्र देते हैं। स्वामीजी मे आज उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिला।

दीक्षा-दान के कुछ देर बाद स्वामीजी का भोजन हुअ
स्वामीजी की थाली में से मैंने और शरच्चन्द्र बाबू ने प्रस
ग्रहण किया।

उस समय श्रीयुत नरेन्द्र नाथ सेन द्वारा सम्पा
'इन्डियन मिरर' नामक अँगरेजी दैनिक मठ में विना मूल्य दि
जाता था, किन्तु मठ के संन्यासियों की ऐसी स्थिति नहीं थी

उसका डाक-खर्च भी दे सकते। यह पत्र एक पत्र-वाहक द्वारा वराहनगर तक वितरित होता था। वराहनगर में 'देवालय' के प्रतिष्ठाता सेवाव्रती श्री शशिपद बन्द्योपाध्याय द्वारा प्रतिष्ठित एक विधवाश्रम था। वहाँ पर इस आश्रम के लिए उक्त पत्र की एक प्रति आती थी। 'इन्डियन मिरर' का पत्र-वाहक बस वहीं तक आता था, इसलिए मठ का समाचार-पत्र भी वहीं दे जाता था। वहाँ से प्रतिदिन पत्र को मठ में लाना पड़ता था। उक्त विधवाश्रम के ऊपर स्वामीजी की यथेष्ट सहानुभूति थी। अमेरिका-प्रवास में इस आश्रम की सहायता के लिए स्वामीजी ने अपनी इच्छा से एक benefit व्याख्यान दिया था और उस व्याख्यान के टिकट बेचकर जो कुछ आय हुई, उसे इस आश्रम में दे दिया था। अस्तु, उस समय मठ के लिए बाजार करना, पूजा की आयोजना करना आदि सभी कार्य कन्हाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) को करना पड़ता था। इस 'इन्डियन मिरर' पत्र को लाने का भार भी उन्हीं के ऊपर था। उस समय मठ में हम लोग बहुत से नवदीक्षित संन्यासी-ब्रह्मचारी आ जुटे थे, किन्तु तब भी मठ के सब आवश्यक कार्यों का भार सब पर नहीं बाँटा गया था। इसलिए स्वामी निर्भयानन्द को यथेष्ट कार्य करना पड़ता था। अतएव उनके भी मन में होता था कि अपने कार्यों में से थोड़ा-थोड़ा कार्य यदि नवीन साधुओं को दे सकें, तो कुछ अवकाश मिले। इस उद्देश्य से उन्होंने मुझसे कहा, "देखो, जिस जगह 'इन्डियन मिरर' आता है, उस स्थान को तुम्हें दिखला दूँगा,—तुम वहाँ से प्रतिदिन समाचार-पत्र ले आना।" मैंने उसे अत्यन्त सरल कार्य समझकर एवं इससे एक व्यक्ति का कार्य-भार कुछ हलका होगा ऐसा सोचकर, सहज में ही स्वीकार

कर लिया। एक दिन दोपहर के भोजन के बाद कुछ देर विश्राम कर लेने पर निर्भयानन्दजी ने मुझसे कहा, "चलो, वह विधवाश्रम तुम्हे दिखला दूँ।" मैं उनके साथ जाने के लिए तैयार हुआ। इसी बीच स्वामीजी ने मुझे देखकर वेदान्त पढ़ने के लिए बुलाया। मैंने कहा कि मैं अमुक कार्य से जा रहा हूँ। इस पर स्वामीजी कुछ नही बोले। मैं कन्हाई महाराज के साथ बाहर जाकर उस स्थान को देख आया। लौटकर जब मठ में आया, तो अपने एक ब्रह्मचारी मित्र से सुना कि मेरे चले जाने के कुछ देर बाद स्वामीजी किसी से कह रहे थे, "यह लड़का कहाँ गया है ? क्या स्त्रियो को तो देखने नही गया ?" इस बात को सुनकर मैंने कन्हाई महाराज से कहा, "भाई, मैं स्थान देख तो आया, पर समाचार-पत्र लाने के लिए अब वहाँ न जा सकूँगा।"

शिष्यों के, विशेषत: नवीन ब्रह्मचारियों के चरित्र की जिससे रक्षा हो, उस विषय मे स्वामीजी विशेष सावधान थे। कलकत्ते में विशेष प्रयोजन के बिना कोई साधु-ब्रह्मचारी रहे या रात बिताए—यह उन्हे बिलकुल पसन्द न था, और विशेषत वह स्थान, जहाँ स्त्रियो के संस्पर्श मे आना होता था। इसके सैकड़ों उदाहरण देख चुका हूँ।

स्वामीजी जिस दिन मठ से रवाना होकर अलमोडा जाने के लिए कलकत्ता गए, उस दिन सीढ़ी के बगल के बरामदे मे खड़े होकर अत्यन्त आग्रह के साथ नवीन ब्रह्मचारियों को सम्बोधन करके ब्रह्मचर्य के बारे में उन्होंने जो बातें कही थी, वे मानो अभी भी मेरे कानों मे गूँज रही है। उन्होंने कहा—

"देखो बच्चो, ब्रह्मचर्य के बिना कुछ भी न होगा। धर्म-जीवन का लाभ करना हो, तो उसमें ब्रह्मचर्य ही एकमात्र

उसका डाक-खर्च भी दे सकते। वह पत्र एक पत्र-वाहक द्वारा वराहनगर तक वितरित होता था। वराहनगर में 'देशलव' के प्रतिष्ठाता सेवाव्रती श्री शशिपद वन्द्योपाध्याय द्वारा प्रतिष्ठित एक विधवाश्रम था। वहाँ पर इस आश्रम के लिए उक्त पत्र की एक प्रति आती थी। 'इन्डियन मिरर' का पत्र-वाहक वहाँ तक आता था, इसलिए मठ का समाचार-पत्र भी वहीं दे जाता था। वहाँ से प्रतिदिन पत्र को मठ में लाना पड़ता था। उक्त विधवाश्रम के ऊपर स्वामीजी की यथेष्ट सहानुभूति थी। अमेरिका-प्रवास में इस आश्रम की सहायता के लिए स्वामीजी ने अपनी इच्छा से एक benefit व्याख्यान दिया था और उस व्याख्यान के टिकट बेचकर जो कुछ आय हुई, उसे इस आश्रम में दे दिया था। अस्तु, उस समय मठ के लिए बाजार करना, पूजा की आयोजना करना आदि सभी कार्य कन्हाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) को करना पड़ता था। इस 'इन्डियन मिरर' पत्र को लाने का भार भी उन्हीं के ऊपर था। उस समय मठ में हम लोग बहुत से नवदीक्षित संन्यासी-ब्रह्मचारी आ जुटे थे, किन्तु तब भी मठ के सब आवश्यक कार्यों का भार सब पर नहीं बांटा गया था। इसलिए स्वामी निर्भयानन्द को यथेष्ट कार्य करना पड़ता था। अतएव उनके भी मन में होता था कि अपने कार्यों में से थोड़ा-थोड़ा कार्य यदि नवीन साधुओं को दे सकें, तो कुछ अवकाश मिले। इस उद्देश्य से उन्होंने मुझसे कहा, "देखो, जिस जगह 'इन्डियन मिरर' आता है, उस स्थान को तुम्हें दिखला दूँगा,—तुम वहाँ से प्रतिदिन समाचार-पत्र ले आना।" मैंने उसे अत्यन्त सरल कार्य समझकर एवं इससे एक व्यक्ति का कार्य-भार कुछ हलका होगा ऐसा सोचकर, सहज में

"उसमें सभी गुण है, केवल एक हृदय का अभाव है—ठीक है, क्रमशः हृदय भी खुल जायगा।"

उस पत्र में यह संवाद था कि भगिनी निवेदिता (उस समय मिस् नोबेल) विलायत से भारत के लिए शीघ्र ही रवाना होंगी। निवेदिता की प्रशंसा करने में स्वामीजी शतमुख हो गए। कहने लगे, "विलायत में इस प्रकार की पवित्र-चरित महानुभाव नारियाँ बहुत कम हैं। मैं यदि कल मर जाऊँ, तो वह मेरे काम को चालू रखेगी।" स्वामीजी की यह भविष्यवाणी सफल हुई थी।

*　　　*　　　*　　　*

स्वामीजी के पास पत्र आया है कि वेदान्त के श्रीभाष्य के अँगरेजी अनुवादक तथा स्वामीजी की सहायता द्वारा मद्रास से प्रकाशित होनेवाले विख्यात 'ब्रह्मवादिन्' पत्र के प्रधान लेखक एवं मद्रास के प्रतिष्ठित अध्यापक श्रीयुत रंगाचार्य तीर्थ-भ्रमण के सिलसिले में शीघ्र ही कलकत्ता आयेंगे। स्वामीजी मध्याह्न समय में मुझसे बोले, "पत्र लिखने के लिए कागज और कलम लाकर जरा लिख तो; और देख, थोड़ा पीने के लिए पानी भी लेते आ।" मैंने एक गिलास पानी लाकर स्वामीजी को दिया और डरते हुए धीरे-धीरे बोला, "मेरे हाथ की लिखावट उतनी अच्छी नहीं है।" मैंने सोचा था, शायद विलायत या अमेरिका के लिए कोई पत्र लिखना होगा। स्वामीजी इस पर बोले, "कोई हर्ज नहीं, आ, लिख, foreign letter (विलायती पत्र) नहीं है।" तब मैं कागज-कलम लेकर पत्र लिखने के लिए बैठा। स्वामीजी अँगरेजी में बोलने लगे। उन्होंने अध्यापक रंगाचार्य को एक पत्र लिखाया और एक पत्र किसी दूसरे को; किसे—यह ठीक स्मरण नहीं है। मुझे याद है—रंगाचार्य को बहुतसी

सहायक है। तुम लोग स्त्रियों के संस्पर्श में बिलकुल न आना। मैं तुम लोगों को स्त्रियों से घृणा करने के लिए नहीं कहता, वे तो साक्षात् भगवतीस्वरूपा है; किन्तु अपने को बचाने के लिए तुम लोगों को उनसे दूर रहने के लिए कहता हूँ। मैंने अपने व्याख्यानों मे बहुत जगह जो कहा है कि संसार में रहकर भी धर्म होता है, सो वह पढ़कर मन में ऐसा न समझ लेना कि मेरे मत में ब्रह्मचर्य या संन्यास धर्म-जीवन के लिए अत्यावश्यक नहीं है। क्या करता, उन सब भाषणों के सुननेवाले सभी ससारी थे, सभी गृही थे—उनके सामने पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात यदि एकदम कहने लगता, तो दूसरे दिन से कोई भी मेरा व्याख्यान सुनने न आता। ऐसे लोगों के लिए कुछ छूट-ढिलाई दिए जाने पर, वे क्रमशः पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर आकृष्ट होते है, इसी लिए मैंने उस प्रकार के भाषण दिए थे। किन्तु अपने मन की बात तुम लोगों से कहता हूँ—ब्रह्मचर्य के बिना तनिक भी धर्मलाभ न होगा। काया, मन और वाणी से तुम लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना।"

* * * *

एक दिन विलायत से कोई पत्र आया। उसे पढ़कर स्वामीजी उसी प्रसग में, धर्म-प्रचारक में कौन-कौन से गुण रहने पर वह सफल हो सकेगा, यह बताने लगे। अपने शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों की ओर लक्ष्य करके कहने लगे कि धर्म-प्रचारक का अमुक अंग खुला रहना आवश्यक है और अमुक अंग बन्द। अर्थात् उसका सिर, हृदय और मुख खुला रहना चाहिए, यानी उसे प्रबल मेधावी, सहृदय और वाग्मी होना चाहिए। और उसके अधोदेश के अगों का कार्य बन्द होगा, अर्थात् वह पूर्ण ब्रह्मचारी होगा। एक प्रचारक को लक्ष्य करके कहने लगे,

"उसमें सभी गुण हैं, केवल एक हृदय का अभाव है——ठीक है, क्रमशः हृदय भी खुल जायगा।"

उस पत्र में यह संवाद था कि भगिनी निवेदिता (उस समय मिस् नोवेल) विलायत से भारत के लिए शीघ्र ही रवाना होगी। निवेदिता की प्रशंसा करने में स्वामीजी शतमुख हो गए। कहने लगे, "विलायत में इस प्रकार की पवित्र-चरित महानुभाव नारियाँ बहुत कम हैं। मैं यदि कल मर जाऊँ, तो वह मेरे काम को चालू रखेगी।" स्वामीजी की यह भविष्यवाणी सफल हुई थी।

*   *   *   *

स्वामीजी के पास पत्र आया है कि वेदान्त के श्रीभाष्य के अँगरेजी अनुवादक तथा स्वामीजी की सहायता द्वारा मद्रास से प्रकाशित होनेवाले विख्यात 'ब्रह्मवादिन्' पत्र के प्रधान लेखक एवं मद्रास के प्रतिष्ठित अध्यापक श्रीयुत रंगाचार्य तीर्थ-भ्रमण के सिलसिले में शीघ्र ही कलकत्ता आयेंगे। स्वामीजी मध्याह्न समय में मुझसे बोले, "पत्र लिखने के लिए कागज और कलम लाकर जरा लिख तो; और देख, थोड़ा पीने के लिए पानी भी लेते आ।" मैंने एक गिलास पानी लाकर स्वामीजी को दिया और डरते हुए धीरे-धीरे बोला, "मेरे हाथ की लिखावट उतनी अच्छी नहीं है।" मैंने सोचा था, शायद विलायत या अमेरिका के लिए कोई पत्र लिखना होगा। स्वामीजी इस पर बोले, "कोई हर्ज नहीं, आ, लिख, foreign letter (विलायती पत्र) नहीं है।" तब मैं कागज-कलम लेकर पत्र लिखने के लिए बैठा। स्वामीजी अँगरेजी में बोलने लगे। उन्होंने अध्यापक रंगाचार्य को एक पत्र लिखाया और एक पत्र किसी दूसरे को; किसे—यह स्मरण नहीं है। मुझे याद है——रंगाचार्य को बहुतसी

दूसरी बातों में एक यह भी बात लिखाई थी—'बंगाल में वेदान्त की वैसी चर्चा नहीं है, अतएव जब आप कलकत्ता आ रहे हैं, तो कलकत्तावासियों को जरा हिला करके जायें।' कलकत्ते में जिससे वेदान्त की चर्चा बढ़े, कलकत्तावासी जिससे थोड़ा सचेत हों, उसके लिए स्वामीजी कितने सचेष्ट थे! स्वामीजी ने अस्वस्थ होने के कारण चिकित्सकों के साग्रह अनुरोध से कलकत्ते में केवल दो व्याख्यान देकर फिर व्याख्यान देना वन्द कर दिया था; किन्तु तो भी जब कभी सुविधा पाते, कलकत्तावासियों की धर्म-भावना को जागृत करने की चेष्टा करते रहते थे। स्वामीजी के इस पत्र के फल-स्वरूप, इसके कुछ दिन बाद कलकत्तावासियों ने स्टार रंग-मंच पर उक्त पण्डितप्रवर का The Priest and the Prophet (पुरोहित और ऋषि) नामक सार-गर्भित व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

* * * *

इसी समय, एक बंगाली युवक मठ मे आया और उसने वहाँ साधु होकर रहने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी तथा वहाँ के अन्यान्य साधु उसके चरित्र से पहले ही से विशेपतया परिचित थे। उसको आश्रमवासी होने में अनुपयुक्त समझकर कोई भी उसे मठ में रखने के पक्ष में नहीं थे। पर उसके पुनः-पुनः प्रार्थना करने पर स्वामीजी ने उससे कहा, "मठ के साधुओं का यदि मत हो, तो तुम्हें रख सकता हूँ।" यह कहकर पुराने साधुओं को बुलाकर उन्होंने पूछा, "इसको मठ मे रखने के बारे में तुम लोगों का क्या मत है?" उस पर सभी साधुओं ने उसे मठ में रखने में अनिच्छा प्रदर्शित की। अतः उस युवक को मठ में नहीं रखा गया। इसके कुछ दिनों बाद सुना कि वह व्यक्ति किसी

तरह विलायत गया, और पास में पैसा-कौड़ी न रहने के कारण उसे work-house में रहना पड़ा।

* * * *

एक दिन अपराह्न काल में स्वामीजी मठ के बरामदे में हम लोगों को लेकर वेदान्त पढ़ाने बैठे। सन्ध्या होने ही वाली थी। स्वामी रामकृष्णानन्द को इससे कुछ दिन पहले स्वामीजी ने प्रचार-कार्य के लिए मद्रास भेजा था। इसलिए उस समय मठ में पूजा-आरती आदि उनके एक दूसरे गुरुभ्राता सँभालते थे। आरती आदि में जो लोग उनकी सहायता करते थे, उन्हें भी लेकर स्वामीजी वेदान्त पढ़ाने बैठे थे। उसी समय उक्त गुरुभ्राता आकर नवीन सन्यासी-ब्रह्मचारियों से कहने लगे, "चलो जी, चलो, आरती करनी होगी, चलो।" उस समय एक ओर स्वामीजी के आदेश से सभी वेदान्त पढ़ने में लगे हुए थे, और दूसरी ओर इनके आदेश से ठाकुरजी की आरती में सहयोग देना चाहिए। अतएव नवीन साधु लोग कुछ असमंजस में पड़ गए। तब स्वामीजी अपने गुरुभ्राता को सम्बोधित करके उत्तेजित होकर कहने लगे, "यह जो वेदान्त पढ़ा जा रहा था, यह क्या ठाकुर की पूजा नहीं है? केवल एक चित्र के सामने जलती हुई बत्ती घुमाना और झांझ पीटना — मालूम होता है, इसी को तुम भगवान की आराधना समझते हो! तुम्हारी बुद्धि बड़ी ओछी है।" इस तरह कहते-कहते जरा और भी अधिक उत्तेजित हो, इस प्रकार वेदान्त-पाठ में बाधा उपस्थित करने के कारण कुछ और भी कड़े वाक्य कहने लगे। फल यह हुआ कि वेदान्त-पाठ बन्द हो गया। कुछ देर बाद आरती भी समाप्त हो गई। किन्तु आरती के बाद उक्त गुरुभ्राता चुपके से कहीं चले गए। तब तो

स्वामीजी भी अत्यन्त व्याकुल होकर बारम्बार "वह कहाँ गया, क्या वह मेरी गाली खाकर गंगा में तो नहीं डूब गया" इस तरह कहने लगे और सभी लोगों को उन्हें ढूंढ़ने के लिए चारों ओर भेजा। बहुत देर बाद मठ की छत पर चिन्तायुक्त भाव से उन्हें बैठे हुए देखकर एक व्यक्ति उन्हे स्वामीजी के पास ले आए। उस समय स्वामीजी का भाव एकदम परिवर्तित हो गया। उन्होंने उनका कितना दुलार किया, और कितनी मधुर वाणी में उनसे बातें करने लगे। हम लोग स्वामीजी का गुरुभाई के प्रति अपूर्व प्रेम देखकर मुग्ध हो गए। तब हम लोगो को मालूम हुआ कि गुरुभाइयों के ऊपर स्वामीजी का अगाध विश्वास और प्रेम है। उनकी आन्तरिक चेष्टा यही रहती थी कि वे लोग अपनी निष्ठा को सुरक्षित रखकर अधिकाधिक उन्नत एवं उदार बन सकें। बाद मे स्वामीजी के श्रीमुख से अनेक बार सुना है कि स्वामीजी जिनकी अधिक भर्त्सना करते थे, वे ही उनके विशेष प्रीति-पात्र थे।

* * * *

एक दिन बरामदे में टहलते-टहलते उन्होंने मुझसे कहा, 'देख, मठ की एक डायरी रखना और प्रत्येक सप्ताह मठ की [एक] रिपोर्ट भेजना।" स्वामीजी के इस आदेश का मैंने, और [बा]द में अन्य व्यक्तियों ने भी, पालन किया था। अभी भी मठ [की] वह आंशिक (छोटी) डायरी मठ मे सुरक्षित है। उससे अभी [भी] मठ के क्रम-विकासास और स्वामीजी के सम्बन्ध में बहुत से [विष]य संग्रह किए जा सकते हैं।

स्वामीजी की स्मृति

(१)

स्वामीजी के घर के पास ही हम लोगों का घर था। एक मुहल्ले के लड़के—हम लोगों ने लड़कपन में नगे ही उनके साथ कितने खेल खेले हैं। उसके बाद उनके जीवन और हम लोगों के जीवन में कितना अन्तर हो गया! कितने दिन, कितने वर्ष बीत गए, उनके दर्शन नही हुए हैं। सुनता हूँ, वे संन्यासी हो गए है, और देश-विदेश मे भ्रमण करते हैं। लड़कपन से ही उनके ऊपर मेरी कुछ विशेष आस्था थी। इसलिए बड़े होने पर भी उनको एक दिन के लिए भी नही भूल सका। यह मेरा पक्का विश्वास था कि वे एक बहुत बडे आदमी होंगे। किन्तु सन्यासी होकर इस प्रकार जगत् के पूज्य हो जायँगे, इसे भला किसने सोचा था? उनके संन्यासी हो जाने पर तो यही बात मन मे आई थी—हाय, इतने बड़े शक्तिमान पुरुष का जीवन व्यर्थ हो गया।

उसके बाद वे अमेरिका गए। शिकागो की धर्मसभा तथा अमेरिका के अन्यान्य स्थानो मे उन्होने जो व्याख्यान दिए, उनका सारांश थोड़ा-थोड़ा संवाद-पत्रों मे देखने लगा। उनके व्याख्यान का जो थोड़ासा विवरण मिलता था, उसी से मे अवाक् हो जाता था। सोचा, आग कभी भी कपड़े से ढाकी नही जा सकती। इतने दिनो के बाद स्वामीजी की वह शक्ति प्रज्वलित हो उठी है। लड़कपन का वही पुष्प इतने दिनो बाद विकसित हुआ है। जितना ही उनकी अद्भुत बातो को सवाद-पत्रो में पढ़ने लगा, उतना ही उस बाल्यबन्धु को फिर से देखने के लिए मन आकुल हो उठा।

एक दिन सुना, वे देश लौट रहे हैं। मद्रास में आकर उन्होंने ज्वलन्त, ओजस्वी व्याख्यान दिया। उस व्याख्यान को पढ़कर हृदय आनन्द से थिरक उठा। सोचा, हिन्दू धर्म के भीतर ऐसी वस्तु है?—और इस प्रकार सरलता से धर्म बोधगम्य हो सकता है? इनकी कैसी अद्भुत शक्ति है! ये क्या मनुष्य हैं, या देवता?

उसके बाद एक दिन कलकत्ते में भारी शोरगुल मचा; उस दिन स्वामीजी आए। बागबाजार में पशुपति बाबू के यहाँ उनका सत्कार किया गया, और शीलबाबू के गंगा-तटवर्ती बगीचे में उनको ठहराया गया। कई दिनों के बाद राजा राधाकान्त देव के बँगले में एक विराट् सभा हुई, जिसमें स्वामीजी ने एक स्निग्ध-गम्भीर व्याख्यान दिया। उसको जिसने जहाँ से सुना, वह वहीं चित्र के समान खड़ा रह गया। उन सब दिनों की बातें सभी जानते हैं। लिखने की आवश्यकता नहीं।

स्वामीजी कलकत्ते में जब से आए, तब से उनके साथ एक बार अकेले में मिलने और जी खोलकर बचपन के समान दो-चार बातें करने के लिए मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा। किन्तु सभी समय लोगों की भीड़ रहती थी। निरन्तर बहुत लोगों के साथ वार्तालाप चलता रहता था। सुविधानुसार कोई समय नहीं मिल पाता था। इसी बीच एक दिन अवसर मिलते ही उनको लेकर बगीचे में गंगाजी के तट पर घूमता चला गया। वे भी बचपन के साथी को पाकर पहले के समान बातचीत करने लगे। दो ही चार बातें हुई होंगी कि एक-पर-एक बुलावा आने लगा कि बहुत से नवीन व्यक्ति उनके दर्शन के लिए आए हैं। इस बार स्वामीजी ने थोड़ा खीजकर कहा, "अरे भाई, जरा छुट्टी दो;

बचपन के इस साथी के साथ दो-चार बातें तो कर लूँ, थोड़ी खुली हवा खा लूँ। जो लोग आए हैं, उन्हें स्नेहपूर्वक बिठाओ, जलपान आदि दो।"

बुलाने के लिए जो आया था, उसके चले जाने पर मैंने स्वामीजी से पूछा, "स्वामीजी, तुम तो साधु हो। तुम्हारे स्वागत के लिए हम लोगों ने जो रुपया एकत्रित किया, उसके बारे मे मैंने सोचा था कि तुम दुर्भिक्ष का समाचार सुनकर कलकत्ता पहुँचने से पहले ही हम लोगों को तार कर दोगे कि 'मेरे स्वागत में एक भी पैसा खर्च न करके कुल-का-कुल दुर्भिक्ष-निवारणी-फण्ड में चन्दा दे दो'; किन्तु तुमने वैसा तो नही किया; इसका क्या कारण है?"

स्वामीजी ने कहा, "हाँ, मेरी इच्छा ही थी कि मेरे लिए खूब धूम-धाम हो। बात क्या है, जानता है? थोड़ी धूम-धाम हुए बिना उनके (भगवान रामकृष्ण के) नाम से लोग कैसे परिचित होंगे? इतना स्वागत-सम्मान क्या मेरे लिए किया गया है? नहीं, यह तो उन्ही के नाम का जय-जयकार हुआ है। उनके बारे में जानने को लोगो के मन मे कितनी इच्छा जागृत हुई है। अब लोग उन्हे क्रमशः जानेंगे, तभी तो देश का मंगल होगा। जो देश के मंगल के लिए आए हैं, उनको जाने बिना देश का मंगल किस प्रकार होगा? उनको ठीक-ठीक जान लेने से 'मनुष्य' तैयार होंगे। और 'मनुष्य' यदि तैयार हो गए, तो दुर्भिक्ष आदि को दूर करना फिर कितनी देर की बात है? मेरी यह इच्छा ही हुई थी कि लोग मेरे लिए इस प्रकार की विराट् सभा का आयोजन करें, खूब धूम-धाम हो; यह सब इसी लिए कि लोग भगवान श्रीरामकृष्ण को मानें; नही तो मुझे अपने लिए इतनी धूम-धाम की

क्या आवश्यकता थी? तुम लोगों के घर जाकर जो एक साथ खेलता था, उसकी अपेक्षा क्या मैं आज कोई बड़ा आदमी हो गया हूँ? मैं तो उस समय जो था, वही आज भी हूँ। तू ही बता न क्या मुझमें कोई परिवर्तन देखता है?"

मैंने मुख से कहा, "नहीं, वैसा तो कोई परिवर्तन नहीं देखता।" परन्तु मन में हुआ—तुम साक्षात् देवता हो गए हो।

स्वामीजी कहने लगे, "दुर्भिक्ष तो है ही; इस समय वह मानो देश का भूषण हो गया है। किसी दूसरे देश में क्या दुर्भिक्ष का इतना उत्पात है? नहीं, क्योंकि उन देशों में 'मनुष्य' हैं। हमारे देश के मनुष्य तो एकदम जड़ हो गए हैं। उनको (रामकृष्ण को) देखकर, उनको (रामकृष्ण को) जानकर मनुष्य स्वार्थ-त्याग करना सीखे; तब उनमें दुर्भिक्ष दूर करने की ठीक-ठीक चेष्टा आयगी। तू देखेगा, मैं क्रमशः वह चेष्टा भी करूँगा।"

मैं—अच्छा, यहाँ खूब भाषण आदि तो दोगे? ऐसा न होने से उनके नाम का प्रचार किस तरह होगा?

स्वामीजी—तू पागल हुआ है क्या रे! उनके नाम के प्रचार में क्या कुछ बाकी है? भाषण से इस देश में कुछ भी न होगा। बाबू-भाई लोग सुनेंगे, वाह-वाह करेंगे, ताली पीटेंगे और उसके बाद घर जाकर भात के साथ सब हजम करके निकाल फेंकेंगे! पुराने जंग खाए लोहे पर हथौड़ी पीटने से क्या होगा?—वह तो टूटकर चूर-चूर हो जायगा। उसको पहले आग में लाल करना होगा, तब कहीं हथौड़ी से पीटकर उसकी कोई वस्तु बनाई जा सकेगी। इस देश में ज्वलन्त जीवन्त उदाहरण दिखाए बिना कुछ भी न होगा। अनेक लड़कों की

आवश्यकता है, जो सब कुछ छोड़-छाड़कर देश के लिए जीवनोत्सर्ग करें। पहले उनका जीवन निर्माण करना होगा, तब कहीं काम होगा।

मैं—अच्छा, स्वामीजी, तुम्हारे अपने देश के लोग अपने धर्म को न समझ सकने के कारण, कोई ईसाई, कोई मुसलमान, तो कोई और कुछ हो रहा है। उन लोगों के लिए बिना कुछ किए तुम अमेरिका और इंगलैण्ड में धर्म सिखाने गए! यह कैसी बात है?

स्वामीजी—बात क्या है, जानता है? तेरे देश के लोगों में यथार्थ धर्म ग्रहण करने की और उसके आचरण की शक्ति कहाँ? है केवल यह अहंकार कि हम लोग बड़े सत्त्वगुणी हैं। तुम लोग किसी समय भले ही सात्त्विक थे, किन्तु इस समय तो तुम लोगों का भारी पतन हो गया है। सत्त्व से पतित होने पर मनुष्य एकदम तम में ही आ जाता है। तुम लोग वही आ गए हो। तुम लोग सोचते हो कि जो हलचल नहीं करता, घर के भीतर बैठकर हरि-कीर्तन करता है, अपने सामने दूसरों पर हजार अत्याचार होते देखकर भी चुप रहता है, वही सत्त्वगुणी है। परन्तु ऐसा नहीं है, उसे तो महातमोगुण ने घेर रखा है। जिस देश के लोग भरपेट खाना नहीं पाते, वहाँ धर्म होगा कहाँ से? जिस देश के लोगों के मन से भोग की कोई वासना ही नहीं मिटी, उन्हें निवृत्ति होगी कहाँ से? इसलिए पहले मनुष्य जिससे पेटभर खाना पा सके और कुछ भोग-विलास कर सके, उसी का उपाय करो; तब धीरे-धीरे यथार्थ वैराग्य आने पर धर्म-लाभ हो सकेगा। विलायत और अमेरिका के लोग कैसे हैं, जानता है? वे पूर्ण रजोगुणी हैं, संसार के सभी प्रकार के भोगों

को भोग चुके हैं। उसके ऊपर फिर ईसाई धर्म तो स्त्रियोचित भक्ति का धर्म है, पुराणों का धर्म है। शिक्षा का विस्तार होने से अब उन्हें उससे शान्ति नहीं मिल रही है। वे जिस अवस्था में हैं उसमें उनको एक धक्का दे देने से ही वे लोग सत्वगुण में पहुँच जायेंगे। और एक बात पूछता हूँ, आज एक लाल मुँहवाला आकर जो कुछ कहेगा, उसे तुम लोग जितना मानोगे, उतना क्या किसी एक फटा-पुराना कपड़ा पहने हुए संन्यासी का कहा मानोगे ?

मैं—महाराज, एन. घोष भी ठीक इसी प्रकार की बातें कहते थे।

स्वामीजी—हाँ, वहाँ के मेरे शिष्यगण जब तैयार होकर यहाँ आयेंगे और तुम लोगों से कहेंगे, 'तुम लोग क्या कर रहे हो, तुम्हारा धर्म-कर्म और रीति-नीति किस बात में कम है; देखो, हम लोग तुम्हारे धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं,' तब देखेगा, उस बात को लोग दल-के-दल सुनेंगे। उन लोगों के द्वारा इस देश का विशेष उपकार होगा। ऐसा न समझना कि वे लोग धर्म-गुरु होकर इस देश में आयेंगे। विज्ञान आदि व्यावहारिक शास्त्र में वे लोग तुम्हारे गुरु होंगे, और धर्म-विषय में इस देश के लोग उनके गुरु होंगे। धर्म-विषय में भारत के साथ समस्त जगत् का चिरकाल तक यही सम्बन्ध रहेगा।

मैं—स्वामीजी, वह किस प्रकार सम्भव है ? हम लोगों से वे जिस प्रकार घृणा करते हैं, उसे देखते हुए तो यह कभी भी सम्भव नहीं मालूम होता कि वे हम लोगों का उपकार कभी भी निःस्वार्थ भाव से करेंगे।

[स्वा]मीजी—उन्हें तुम लोगों से घृणा करने के लिए बहुत

से कारण मिलते हैं, इसलिए वे तुम लोगों से घृणा करते हैं। एक तो तुम लोग विजित हो, उसके ऊपर तुम लोगो के समान घर-बारहीन लोगो का दल ससार मे और कहीं भी नहीं है। नीच जाति के लोग तुम लोगो के अत्याचार से, उठते-बैठते ठोकरे खाकर एकदम मनुष्यत्व खो बैठे हैं और इस समय भीख मांगने का व्यवसाय करने लगे हैं। उनसे ऊपरश्रेणी के लोग दो-एक पृष्ठ अँगरेजी पढ़कर, हाथ मे अर्जी लेकर सभी आफिसों के चक्कर काटा करते हैं। बीस रुपए की एक नौकरी खाली होने पर पांच सौ बी. ए., एम ए प्रार्थना-पत्र देते हैं। और वह कलकी प्रार्थना-पत्र भी कैसा! "घर में खाना नही है, स्त्री-बच्चे खाना नही पाते, साहब! दो रोटी खाने को दो, नही तो गया!" और नौकरी मिली भी, तो दासता के शिखर पर पहुँच जाते हैं। असल में ये ही तो हुए निम्नश्रेणी के लोग! तुम लोगो के उच्च-शिक्षित बड़े-बड़े (?) आदमी दल बांधकर "हाय, भारत गया! हे अँगरेज! तुम लोग हमारे आदमियो को नौकरी दो, दुर्भिक्ष दूर करो," इत्यादि दिन-रात केवल 'दो-दो' करके महाकोलाहल मचाते रहते हैं। सभी बातों की टेक है—"अँगरेज! हमे दो!" अरे भाई, और कितना देंगे? रेलगाड़ी दी है, तार-पत्र दिया है, राज्य की सुश्रृंखलता दी है, डाकुओ के दलो को प्रायः विनष्ट कर दिया है, विज्ञान की शिक्षा दी है, और क्या देंगे? निःस्वार्थ भाव से क्या कोई देता है? अच्छा जी, उन्होंने तो इतना दिया है, तुम लोगो ने क्या दिया है?

मैं—हम लोगो के पास देने को है ही क्या, महाराज? राज्य का कर देते हैं।

स्वामीजी—वाह खूब! वह भी क्या तुम लोग स्वयं देते

हो, ठोकर मारकर वसूल करते हैं—और वे राज्य की रक्षा जो करते हैं। तुम्हें उन लोगों ने जो इतना दिया है, उसके बदले में उन्हें तुम लोग क्या देते हो? बोलो। तुम लोगों के पास तो देने की ऐसी वस्तु है, जो उनके पास भी नहीं है। तुम लोग विलायत जाते हो, और वह भी भिखारी होकर—कहते हो, 'विद्या दो, विद्या दो।' कोई वहाँ जाकर उनके धर्म की गर्व के साथ कुछ प्रशंसा करके लौट आता है, और इसमें अपनी बड़ी बहादुरी समझता है। क्यों, तुम्हारे पास देने के लिए क्या कुछ भी नहीं है? अरे, तुम्हारे पास अमूल्य रत्न हैं; यदि दे सको, तो धर्म दो, मनोविज्ञान दो। सम्पूर्ण जगत् का इतिहास पढ़ देखो, जितने भी उच्च भाव हैं, वे सब पहले भारत में ही उठे हैं। चिरकाल से भारत जन-समाज में भाव की खानि रहा है; नए-नए भाव उत्पन्न कर समस्त संसार में उसने भाव वितरण किया है। आज अँगरेज भारत में आए हैं उन्हीं उच्च-उच्च भावों को ग्रहण करने के लिए, उसी वेदान्त-ज्ञान के लिए, उसी सनातन धर्म के गम्भीर रहस्य के लिए। तुम लोग उनसे जो पाते हो, उसके विनिमय में उन्हें अपने इन सब अमूल्य रत्नों को दो। तुम लोगों के इस भिखारी नाम को मिटाने के लिए ही ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) मुझे उनके देश में ले गए थे। केवल भीख माँगने के लिए विलायत जाना ठीक नहीं। तुम्हें चिरकाल तक कौन भिक्षा देगा, और भला देगा भी क्यों? क्या हरदम कोई दिया ही करता है? कंगाल के समान केवल हाथ सामने फैलाना संसार का नियम नहीं है। जगत् का नियम है—आदान और प्रदान। इस नियम को जो लोग, जो जाति, जो देश नहीं मानेगा, उसका कल्याण नहीं होगा। हम लोगों को भी उस नियम का पालन करना चाहिए। इसी लिए मैं अमेरिका

रहा था। उन लोगों के भीतर इस समय इतनी अधिक मात्रा में धर्म-पिपासा है कि मेरे बहुत [illegible] यदि हजारों की संख्या में भी वहाँ जायें, तो भी उन्हें स्थान मिलेगा। वे बहुत दिनों से तुम लोगों की बाट जोह रहे हैं, तुम लोग अब उन्हें अमृत [illegible] दो। [illegible] और तुम्हारे देश का वे बहुत ही उपकार करेंगे। वे वीर-जाति हैं, उपकार नहीं भूलते।

मैं—महाराज, उस देश में तो तुमने हम लोगों के कितने ही गुण बखान हैं; हम लोगों की धर्मप्राणता के कितने ही उदाहरण दिए हैं। और अभी तुम कहते हो कि हम लोग महा-तमोगुणी हो गए हैं। उस पर फिर ऋषियों के सनातन धर्मरूपी धन के वितरण का अधिकारी तुम हमीं लोगों को बताते हो—यह कैसी बात है?

स्वामीजी—तू कहना क्या है, क्या तुम लोगों के दोषों को देश-देश में फैलाता फिरूँ या तुम्हारे जो गुण हैं, उन्हीं को गाऊँ? जिसका जो दोष हो, वह उसी से कहना अच्छा है, पर दूसरी जगह उसके गुणों का ढोल पीटना ही अच्छा है। ठाकुर कहा करते थे कि खराब आदमी को यदि 'अच्छा है, अच्छा है' कहा जाय, तो वह अच्छा हो जाता है, और अच्छे आदमी को 'खराब है, खराब है' कहा जाय, तो वह खराब हो जाता है। उन लोगों के दोषों की बात उनके सामने अच्छी तरह प्रकट कर आया हूँ। इस देश से जितने आदमी आज तक उस देश में गए हैं, वे सब उन लोगों का गुण-गान और हम लोगों के दोषों का प्रचार ही करके आए हैं।
है। यही कारण

को उन्हें दिखलाया है। तुम लोग चाहे कितना भी तमोगुणी क्यों न हो जाओ, परन्तु पुरातन ऋषियों का भाव तुम्हारे अन्दर कुछ-न-कुछ विद्यमान है ही। तो भी, कोई एकदम विलायत जाकर और धर्मोपदेष्टा हो जाय, यह सम्भव नहीं है। पहले एकान्त में बैठकर धर्म-जीवन को अच्छी तरह गढ़ लेना होगा, पूर्ण रूप से त्यागी होना होगा और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा। तुम लोगों के भीतर तमोगुण आ गया है—तो उससे क्या हुआ? उसका नाश क्या नहीं हो सकता? एक ही बार में हो सकता है। इस तमोगुण का नाश करने के लिए ही तो भगवान श्रीरामकृष्ण देव अवतरित हुए थे।

मैं—परन्तु, स्वामीजी, तुम्हारे समान और कौन होगा?

स्वामीजी—तुम लोग सोचते हो, मेरे पश्चात् शायद और कोई विवेकानन्द नहीं होगा। अरे, ये जो नशाखोर लोग आकर कन्सर्ट (गाना-बजाना) करके चले गए, जिनसे तुम लोग इतनी घृणा करते हो, जिन्हें तुम लोग अत्यन्त तुच्छ समझते हो, ठाकुर की इच्छा होने पर उनमें से हरएक व्यक्ति विवेकानन्द हो सकता है। आवश्यकता होने पर विवेकानन्द का अभाव नहीं रहेगा। कहाँ से कोटि-कोटि विवेकानन्द आकर उपस्थित हो जायँगे, यह कौन जानता है? यह विवेकानन्द का काम नहीं है रे; यह तो उनका काम है—ठाकुर का, स्वयं प्रभु का। एक गवर्नर जनरल के जाने के बाद उसके स्थान पर दूसरा आयगा ही। तुम लोग चाहे कितने ही तमोगुणी क्यों न रहो, मन और वाणी को एक करके उनकी शरण में जाने पर सभी अन्धकार (तमोगुण) दूर हो जायगा। अभी उस रोग को हटाने वाले वैद्यराज जो आए हैं! उनका नाम लेकर कार्य में लग जाने

पर वे स्वयं ही सब कुछ कर लेगे। तब यही तमोगुण सत्त्वगुण में परिवर्तित हो जायगा।

मैं—कुछ भी कहो, परन्तु उस बात पर विश्वास नहीं होता। तुम्हारे समान अध्यात्म-दर्शन पर भाषण देने की क्षमता किसमें होगी ?

स्वामीजी--तू जानता नही। वह क्षमता सभी मे आ सकती हैं। भगवान के लिए बारह वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करने से वह क्षमता आ जाती है। मैंने इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन किया है, इसी लिए मेरे मस्तिष्क का पर्दा खुल गया है। यही कारण है कि अब मुझे दर्शन सदृश जटिल विषय पर भाषण देने के लिए सोचना नही पड़ता। सोच, कल मुझे वक्तृता देनी है; जो वक्तृता मैं दूंगा, उसकी तस्वीर आज रात मे एक-पर-एक आंख के सामने से गुजरने लगती है। दूसरे दिन भाषण में वही सब बोलता हूं। सो देखा तूने, यह शक्ति मेरी अपनी नहीं है। जो कोई भी अभ्यास करेगा, उसे यह शक्ति मिलेगी। तू कर, तुझे भी मिलेगी। हमारे शास्त्रों में ऐसा नही कहा गया है कि यह शक्ति अमुक को मिलेगी तथा अमुक को नही।

मैं—महाराज, तुम्हें याद है, उस समय तुमने संन्यास नहीं लिया था, एक दिन हम लोग ××के घर में बैठे हुए थे; तुम हम लोगों को समाधि की क्रिया समझाने की चेष्टा कर रहे थे। जब मैंने यह कहकर कि कलिकाल मे वह सब होना असम्भव है; तुम्हारी बात को उड़ा देने की चेष्टा की थी, तो तुमने जोर देकर कहा था, 'तू समाधि देखना चाहता है, या समाधिस्थ होना चाहता है ? मुझे तो समाधि होती है। और मैं तुझे भी समाधिस्थ कर दे सकता हूं।' तुम्हारे इस वाक्य के पूरा होते ही कोई एक अपरिचित

को उन्हें दिखलाया है। तुम लोग चाहे कितना भी तमोगुणी क्यों न हो जाओ, परन्तु पुरातन ऋषियों का भाव तुम्हारे अन्दर कुछ-न-कुछ विद्यमान है ही। तो भी, कोई एकदम विलायत जाय और धर्मोपदेष्टा हो जाय, यह सम्भव नहीं है। पहले एकान्त में बैठकर धर्म-जीवन को अच्छी तरह गढ़ लेना होगा, पूर्ण रूप से त्यागी होना होगा और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा। तुम लोगों के भीतर तमोगुण आ गया है—तो उससे क्या हुआ? उसका नाश क्या नहीं हो सकता? एक ही बार में हो सकता है। इस तमोगुण का नाश करने के लिए ही तो भगवान श्रीरामकृष्ण देव अवतरित हुए थे।

मैं—परन्तु, स्वामीजी, तुम्हारे समान और कौन होगा?

स्वामीजी—तुम लोग सोचते हो, मेरे पश्चात् शायद और कोई विवेकानन्द नहीं होगा। अरे, ये जो नशाखोर लोग आकर कन्सर्ट (गाना-बजाना) करके चले गए, जिनसे तुम लोग इतनी घृणा करते हो, जिन्हें तुम लोग अत्यन्त तुच्छ समझते हो, ठाकुर की इच्छा होने पर उनमें से हरएक व्यक्ति विवेकानन्द हो सकता है। आवश्यकता होने पर विवेकानन्द का अभाव न रहेगा। कहाँ से कोटि-कोटि विवेकानन्द आकर उपस्थित हो जायेंगे, यह कौन जानता है? यह विवेकानन्द का काम नहीं है; यह तो उनका काम है—ठाकुर का, स्वयं प्रभु का। गवर्नर जनरल के जाने के बाद उसके स्थान पर दूसरा आयेगा ही। तुम लोग चाहे कितने ही तमोगुणी क्यों न रहो, मन और वाणी को एक करके उनकी शरण में जाने पर सभी विकार (तमोगुण) दूर हो जायगा। अभी उस रोग को हटाने-वाले वैद्यराज जो आए हैं! उनका नाम लेकर कार्य में लग जाने

पर वे स्वयं ही सब कुछ कर लेंगे। तब यही तमोगुण सत्वगुण में परिवर्तित हो जायगा।

मैं—कुछ भी कहो, परन्तु उस बात पर विश्वास नही होता। तुम्हारे समान अध्यात्म-दर्शन पर भाषण देने की क्षमता किसमें होगी ?

स्वामीजी—तू जानता नही। वह क्षमता सभी मे आ सकती है। भगवान के लिए बारह वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करने से वह क्षमता आ जाती है। मैंने इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन किया है, इसी लिए मेरे मस्तिष्क का पर्दा खुल गया है। यही कारण है कि अब मुझे दर्शन सदृश जटिल विषय पर भाषण देने के लिए सोचना नही पड़ता। सोच, कल मुझे वक्तृता देनी है; जो वक्तृता मै दूंगा, उसकी तस्वीर आज रात में एक-पर-एक आँख के सामने से गुजरने लगती है। दूसरे दिन भाषण में वही सब बोलता हूँ। सो देखा तूने, यह शक्ति मेरी अपनी नही है। जो कोई भी अभ्यास करेगा, उसे यह शक्ति मिलेगी। तू कर, तुझे भी मिलेगी। हमारे शास्त्रो में ऐसा नही कहा गया है कि यह शक्ति अमुक को मिलेगी तथा अमुक को नही।

मैं—महाराज, तुम्हे याद है, उस समय तुमने संन्यास नही लिया था, एक दिन हम लोग XX के घर मे बैठे हुए थे; तुम हम लोगों को समाधि की क्रिया समझाने की चेष्टा कर रहे थे। जब मैंने यह कहकर कि कलिकाल मे वह सब होना असम्भव है; तुम्हारी बात को उड़ा देने की चेष्टा की थी, तो तुमने जोर देकर कहा था, 'तू समाधि देखना चाहता है, या समाधिस्थ होना चाहता है? मुझे तो समाधि होती है। और मै तुझे भी समाधिस्थ कर दे सकता हूँ।' तुम्हारे इस वाक्य के पूरा होते ही कोई एक अपरिचित

व्यक्ति आ गया था। और फिर हम लोगों को इस विषय में कोई चर्चा नहीं हो पाई थी।

स्वामीजी — हां; याद है।

तब मैंने अपने को समाधिस्थ कर देने के लिए स्वामीजी से विशेष रूप से आग्रह किया। इस पर वे बोले, "देख, पिछले कुछ वर्षों से लगातार वक्तृता देते और काम करते रहने के कारण मेरे भीतर रजोगुण काफी बढ़ गया है। इसलिए वह शक्ति इस समय दबी हुई है। कुछ दिन सब कार्यों को छोड़कर हिमालय में जाकर रहने दे, फिर से उस शक्ति का उदय हो जायगा।"

इसके दो-एक दिन बाद स्वामीजी के दर्शन करने के लिए मैं अपने घर से चला ही था कि इसी समय दो मित्र आकर उपस्थित हुए, और उन्होंने कहा कि वे भी स्वामीजी के दर्शन करना चाहते हैं तथा प्राणायाम के विषय में कुछ पूछना चाहते हैं। उन लोगों को साथ ले मैं काशीपुर के बगीचे में आ उपस्थित हुआ। देखा, स्वामीजी हाथ-मुंह धोकर बाहर आ रहे हैं। सुना था कि खाली हाथ देवता या साधु के दर्शन करने नहीं जाना चाहिए, इस-लिए हम लोग कुछ फल और मिष्टान्न साथ में ले गए थे। वे ज्योंही बाहर आए, हम लोगों ने उन वस्तुओं को उन्हें अर्पित किया। स्वामीजी ने उन्हें लेकर अपने माथे से लगाया, और हमारे प्रणाम करने के पहले ही हम लोगों को प्रणाम किया। मेरे साथ आए हुए मित्रों में से एक स्वामीजी के सहपाठी थे। उनको पहचान लेने पर विशेष आनन्द के साथ उनसे कुशल-क्षेम पूछने लगे। बाद में हम लोगों को अपने पास बिठाया। हम लोग जहां बैठे, वहां पर और भी बहुत से लोग उपस्थित थे। सभी स्वामीजी की मधुर वार्ता सुनने आए थे। अन्यान्य लोगों के दो-एक प्रश्न का

उत्तर देकर कथा-प्रसंग मे स्वामीजी स्वयमेव प्राणायाम की बात समझाने लगे। मनोविज्ञान से ही जड़विज्ञान की उत्पत्ति है, यह बात विज्ञान की सहायता से पहले समझाकर फिर प्राणायाम क्या है, यह समझाने लगे। इसके पहले हम लोगो मे से कई उनकी 'राजयोग' नामक पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ चुके थे। किन्तु आज उनके समीप प्राणायाम के सम्बन्ध मे जिन बातों को सुना, उससे मन मे हुआ कि उनके भीतर में जितना है, उसका अत्यल्प अंश ही उस पुस्तक मे लिपिबद्ध हुआ है। तब समझ सका कि उनकी ये सब बातें केवल पोथी-विद्या नही हैं। मन्त्र-द्रष्टा ऋषि को छोड़कर धर्मशास्त्र के जटिल प्रश्नो की विज्ञान की सहायता से इस प्रकार विशद मीमांसा करना किसी अन्य के द्वारा सम्भव नही। संसार में पण्डितों का अभाव नही है; किन्तु सत्य के द्रष्टा या उपलब्धा विरले ही हैं। पण्डितों की संख्या कम होकर यदि द्रष्टाओं की संख्या अधिक होती, तो भारत को ऐसा दुर्दिन न देखना होता।

उस दिन हम लोग स्वामीजी के पास साढे तीन बजे गए थे। उनकी प्राणायाम विषयक वार्ता ७॥ बजे तक चलती रही। फिर सभा विसर्जन होने के बाद जब हम लोग बाहर आए, तो मेरे दोनों साथी मुझसे पूछने लगे, "स्वामीजी हम लोगो के मन मे निहित प्रश्नों को कैसे जान सके? तुमने क्या पहले से ही उन्हें इन प्रश्नों को बतला दिया था?"

इस घटना के कुछ दिन बाद, एक दिन बागबाजार के परलोकवासी प्रियनाथ मुखोपाध्याय के घर मे गिरीश बाबू, अतुल बाबू, स्वामी ब्रह्मानन्द, योगानन्द एवं और भी दो-एक मित्रों के समक्ष मैंने स्वामीजी से पूछा, "स्वामीजी, उस दिन मेरे साथ

जो दो व्यक्ति तुम्हारे दर्शन करने के लिए आए थे, वे तुम्हारे भारत में वापस आने से पहले ही तुम्हारा 'राजयोग' पढ़ चुके थे, और उन्होंने कह रखा था कि यदि तुम्हारे साथ उनका कभी साक्षात्कार होगा, तो वे तुमसे प्राणायाम के विषय में कुछ प्रश्न पूछेंगे। किन्तु उस दिन उन लोगों के कुछ भी पूछने के पहले ही तुमने उनके अन्तःकरण के सन्देहों को स्वयं ही उठाकर जो मीमांसा की, इस पर वे मुझसे पूछने लगे कि कहीं मैंने तुमसे उनके प्रश्नों को पहले से ही तो नहीं कह रखा था।"

स्वामीजी बोले, "उस देश में भी बहुधा ऐसी घटना होने पर बहुत से लोग मुझसे पूछा करते थे कि आप मेरे अन्तःकरण के प्रश्नों को कैसे समझ लेते हैं? यह शक्ति मुझमें उतनी नहीं है। ठाकुर में तो यह प्रायः चौबीसों घंटे विद्यमान रहती थी।"

इस प्रसंग में अतुल बाबू ने पूछा, "तुम राजयोग में कहते हो कि पूर्वजन्म की सभी बातें जानी जा सकती हैं। तो क्या तुम अपनी बातें जान सकते हो?"

स्वामीजी—हां, जान सकता हूं।

अतुल बाबू—क्या-क्या जान सकते हो, बतलाने में कोई हर्ज है?

स्वामीजी—जान सकता हूं, और जानता भी हूं, किन्तु इस सम्बन्ध में अधिक नहीं कहूंगा।

स्वामीजी की स्मृति

(२)

नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) हेदो तालाब के पास जनरल असेम्बली कालेज में पढ़ते हैं। एफ. ए. यहीं से पास किया है। उनके असंख्य गुणों के कारण बहुत से सहपाठी उनमें अत्यन्त अनुरक्त हैं। वे उनका गाना सुनना इतना आनन्दप्रद मानते हैं कि अवकाश पाते ही नरेन्द्र के घर पर उपस्थित हो जाते हैं। वहाँ बैठकर एक बार नरेन्द्र की तर्क-युक्ति या गाना-बजाना आरम्भ होते ही समय कैसे निकल जाता है, वे समझ नहीं पाते।

नरेन्द्र इस समय अपने पिता के घर केवल दो बार भोजन करने के लिए जाते हैं और शेष समय समीप में ही रामतनु वसु की गली में अपनी नानी के घर में रहकर अध्ययन करते हैं। अध्ययन के लिए ही वे यहाँ रहते हों, ऐसी बात नहीं, नरेन्द्र एकान्त में रहना अधिक पसन्द करते हैं। उनके घर में बहुत से लोग हैं, खूब हल्ला-गुल्ला होता रहता है, रात में जप-ध्यान में बड़ी बाधा पहुँचती है। नानी के घर पर अधिक लोग नहीं हैं। दो-एक जो हैं भी, उनसे नरेन्द्र को किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नहीं होती। बच्चे-बच्चे, जिनके द्वारा ही अधिक शोर-गुल होता है, यहाँ एक भी नहीं है। नरेन्द्र जिस कमरे में रहते हैं, वह घर के बाहर की ओर दुमंजिले में है। कमरे के सामने ही ऊपर जाने की सीढ़ी है। कोठरी कमरों के साथ आने-जाने का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव उनके मित्रगण, जिनकी जब इच्छा होती है, आकर उपस्थित हो जाते हैं। नरेन्द्र ने अपने इस अपूर्व छोटे घर का नाम 'तंग' रखा है। किसी को साथ लेकर जब वहाँ आना होता है, तो कहते

मित्र बोले, "भाई, मैं तो बजाना जानता नहीं। स्कूल में टेबल का तख्ता बजा लेता हूँ, तो क्या तुम्हारे साथ तबला भी बजा सकूँगा ?"

तब नरेन्द्र ने स्वय थोड़ासा बजाकर दिखला दिया और बोले, "अच्छी तरह से देख ले। अवश्य बजा सकेगा। क्यों नही बजा सकेगा? कोई कठिन काम तो है नही। इस तरह बस ठेका दिए जा, हो गया।" साथ-ही-साथ बजाने के बोल भी बतला दिए। मित्र एक-दो बार चेष्टा करने के बाद किसी तरह ठेका देने लगे। गाना प्रारम्भ हुआ। तान-लय में उन्मत्त होकर और दूसरों को उन्मत्त बनाकर नरेन्द्र के हृदयस्पर्शी स्वर मे टप्पा, ढप, ख्याल, ध्रुपद, बँगला, हिन्दी और सस्कृत गानो का प्रवाह चलने लगा। किसी नवीन ठेके के समय नरेन्द्र इतनी सरलता से बोल के साथ ठेका बतला देते कि उन्होने अपने मित्र द्वारा इस तरह कवाली, एकताला, आड़ाठेका, मध्यमान, यहाँ तक कि सुरफाँक-ताल भी बजवा लिया। नरेन्द्र के पास गानो की कमी नही थी। हिन्दी गाना प्रारम्भ होने पर नरेन्द्र पहले उसका अर्थ समझा देते थे और उसके अन्तर्निहित भावों के साथ स्वर-लय का अपूर्व ऐक्य दिखलाकर मित्र को मुग्ध कर देते थे। दिन कहाँ से होकर कहाँ निकल गया, कुछ ज्ञात नही हुआ। सन्ध्या आई। घर का नौकर एक टिमटिमाता हुआ प्रदीप रख गया। धीरे-धीरे रात के दस बज गए, तब कही दोनों मित्रों को होश आया। वे परस्पर विदा हुए; नरेन्द्र अपने पिता के घर भोजन करने के लिए चले गए और मित्र ने अपने घर की ओर प्रस्थान किया।

इस प्रकार नरेन्द्र की पढ़ाई मे न जाने कितनी बाधाएँ आती रहती थी, गिनी नही जा सकती। नरेन्द्र के साथ इस समय

जिन्हे भी घनिष्ठता प्राप्त हुई है, वे अपनी आँखों से यह सब देख चुके हैं। परन्तु बाधा कितनी ही क्यों न पहुँचे, नरेन्द्र सर्वथा निर्विकार रहते थे।

नरेन्द्र बहुत दिनो से श्रीरामकृष्ण देव के पास नही गए थे। इसलिए वे स्वयं एक दिन सबेरे रामलाल के साथ कलकत्ते में नरेन्द्र के 'तग' मे आए। उस दिन सवेरे नरेन्द्र के कमरे में दो सहपाठी हरिदास चट्टोपाध्याय और दाशरथि सान्याल बैठे थे। ये लोग कभी पढ़ते थे, तो कभी वार्तालाप करते थे। इसी समय बहिर्द्वार पर 'नरेन, नरेन' शब्द सुनाई पड़ा। स्वर सुनते ही नरेन्द्र हड़बड़ाकर तेजी से नीचे पहुँचे। उनके मित्रों ने भी समझ लिया कि परमहंस देव आए है, इसी लिए नरेन्द्र इतने अस्त-व्यस्त होकर उन्हें अभ्यर्थनापूर्वक लाने के लिए गए हैं। मित्रोंने देखा, बीच सीढ़ी पर दोनों का परस्पर साक्षात्कार हुआ। श्रीरामकृष्ण देव नरेन्द्र को देखते ही अश्रुपूर्ण लोचनो से गद्‌गद स्वर में कहने लगे, "तू इतने दिनों तक आया क्यों नहीं, तू इतने दिनो तक आया क्यो नही?" बारम्बार इस तरह कहते-कहते कमरे में आकर बैठे, बाद में अँगोछे मे बँधे हुए सदेश को खोलकर नरेन्द्र को 'खा, खा' कहकर खिलाने लगे। वे जब कभी नरेन्द्र को देखने आते, तो कुछ-न-कुछ अति उत्तम खाद्य वस्तु उनके लिए अवश्य बाँधकर ले आते थे; बीच-बीच मे लोगो के द्वारा भी भेज देते थे। नरेन्द्र अकेले खानेवाले तो थे नही, उनमे से कुछ सदेश लेकर पहले अपने मित्रो को दिए, फिर स्वयं खाया। श्रीरामकृष्ण उसके बाद बोले, "अरे, तेरा गाना तो बहुत दिनों से नहीं सुना, जरा गाना तो गा।" उसी समय तानपूरा लेकर, उसका कान स्वर बाँधकर नरेन्द्र ने गाना प्रारम्भ किया:—

(भैरवी—एकताला)

जागो माँ कुलकुण्डलिनी,
(तुमि) ब्रह्मानन्दस्वरूपिणी, (तुमि नित्यानन्दस्वरूपिणी),
प्रसुप्त-भुजगाकारा आधारपद्मवासिनी ।
त्रिकोणे ज्वले कृशानु, तापिता होइलो तनु,
मूलाधार त्यज शिवे स्वयम्भू-शिव-वेष्टिनी ॥
गच्छ सुषुम्नारि पथ, स्वाधिष्ठाने होओ उदित,
मणिपुर अनाहत विशुद्धाज्ञा सचारिणी ॥
शिरसि सहस्रदले, परम शिवेते मिले,
क्रीडा करो कुतूहले, सच्चिदानन्ददायिनी ॥ *

ज्योंही गाना आरम्भ हुआ, श्रीरामकृष्ण भी भावस्थ होने लगे। गाने के स्तर-स्तर में उनका मन ऊपर उठने लगा. आंखें अपलक हो गईं, अंग स्पन्दनहीन हो गए, मुख ने अलौकिक भाव धारण किया, और धीरे-धीरे संगमर्मर की मूर्ति के समान निस्पन्द हो वे निर्विकल्प समाधि में लीन हो गए। नरेन्द्र के मित्रों ने इसके पहले किसी मनुष्य को इस प्रकार भावस्थ नहीं देखा था। वे परमहंस देव की यह अवस्था देखकर मन में सोचने

लगे — मालूम होता है, शरीर में किसी प्रकार की वेदना सहसा उत्पन्न हो गई है, इसी लिए वे संज्ञा-शून्य हो गए हैं। वे बहुत डरे। दाशरथि तो जल्दी-जल्दी पानी लाकर उनके मुख पर छींटा देने का प्रयत्न करने लगे। यह देखकर नरेन्द्र उनको रोक-कर कहने लगे, "उसकी कोई आवश्यकता नहीं। वे संज्ञा-शून्य नहीं हुए हैं, वे भावस्थ हुए हैं! फिर से गाना सुनते-सुनते ही वे अब चेतना-युक्त हो जायँगे।" नरेन्द्र ने इस बार श्यामा-विषयक गाना प्रारम्भ किया। उन्होंने, 'एक बार तेमनि तेमनि तेमनि करे नाचो माँ श्यामा' इस प्रकार के बहुत से श्यामा-विषयक गाने गाए। कृष्ण-सम्बन्धी भी बहुत से गाए। गाना सुनते-सुनते श्रीरामकृष्ण कभी भावाविष्ट हो जाते थे और कभी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त कर लेते थे। नरेन्द्र बहुत देर तक गाना गाते रहे। अन्त में गाना समाप्त होने पर श्रीरामकृष्ण देव बोले, "दक्षिणेश्वर चलेगा? कितने दिनों से नहीं गया है। चल न, फिर अभी लौट आना।" नरेन्द्र उसी समय तैयार हो गए। पुस्तक आदि उसी तरह पड़ी रहीं। केवल तानपूरे को यत्नपूर्वक रखकर उन्होंने श्रीगुरुदेव के साथ दक्षिणेश्वर प्रस्थान किया। मित्रगण भी अपने-अपने घर की ओर रवाना हुए।

नरेन्द्रनाथ के पढ़ने-लिखने में इस तरह के बहुत से विघ्न आते रहते थे, यह उनके बहुत से मित्रो ने देखा है। पर किसी को साहस नहीं होता था कि इस विषय मे उनसे कुछ कहे। एक दिन उक्त हरिदास चट्टोपाध्याय ने यह सोचकर कि श्रीरामकृष्ण देव के साथ नरेन्द्र का समय व्यर्थ नष्ट होता है, उनके प्रति इशारा करते हुए बोले, "भाई, धर्म के प्रति तुम्हारा जैसा आवेग है, इससे जान पड़ता है, तुम निश्चय ही निकट भविष्य में

उत्कृष्ट गुरु प्राप्त करोगे।" नरेन्द्र खूब अच्छी तरह समझ गए कि मेरा मित्र श्रीरामकृष्ण को एक साधारण व्यक्ति समझकर ही इस तरह कह रहा है। नरेन्द्र अपने मित्र के कथन से मर्माहत हुए, किन्तु उन्होंने किसी प्रकार का प्रतिवाद नहीं किया। किसी दूसरे मित्र के साथ एक दिन बातचीत के सिलसिले में कह दिया, "भाई, हरिदास मेरे गुरुदेव को सामान्य मनुष्य मानता है। सो जैसा भी हो।

'यद्यपि मेरा गुरु कलवार-घर जाय।
तथापि मेरा गुरु है नित्यानन्द राय।' "

इस प्रसंग के बहुत दिनों के बाद लेखक के समीप हरिदास ने इस सम्बन्ध में कहा था, "भाई, उस समय क्या हम लोग परमहंस देव को पहचान सके थे? भाग्यवश नरेन्द्र ने उन्हें पहचान लिया था और हम लोग दुर्भाग्यवश कुछ भी उस समय नहीं समझ सके थे।"

हरिदास इस प्रकार अत्यधिक दु.ख प्रकाशित करते और उनकी आंखे भर आतीं।

बी. ए. की परीक्षा के लिए रुपया जमा करने का समय आया। सभी ने अपनी-अपनी कालेज-फीस और परीक्षा-फीस जमा कर दी। हरिदास की अवस्था ठीक नहीं थी। फिर उस पर उन्हें एक वर्ष की कालेज-फीस भी देनी थी। उस समय जनरल असेम्बली में इसी तरह उधारी-खाता पर पढ़ाई-लिखाई चला करती थी। परीक्षा के समय कालेज के अधिकारी सम्पूर्ण फीस वसूल कर लेते थे। जो लोग सम्पूर्ण फीस देने में बिलकुल असमर्थ होते थे, उन लोगों में से कुछ को थोड़ी-थोड़ी और कुछ को सम्पूर्ण फीस की माफी मिल जाती थी। इस सब छूट-छाट करने

से छात्र आ उपस्थित हुए। बाद में राजकुमार आए। बहुत से लड़कों को एकत्रित देखकर एक बार सभी से बकाया मासिक फीस का तकाजा किया। इस बार का तकाजा कुछ जोरदार था; क्योंकि राजकुमार ने चेतावनी दी थी, "जो छात्र अमुक दिन के भीतर मासिक फीस के रुपए नही जमा करेंगे, वे परीक्षा में नही लिए जायेंगे।" छात्रगण राजकुमार को घेरकर अपनी-अपनी दुःख-गाथा सुनाने लगे, और बकाया फीस माफ करने के लिए प्रार्थना करने लगे। बहुत से अच्छे लडके राजकुमार के प्रियपात्र थे। किसी लड़के के बारे में जब उन्हें कुछ निर्णय करना होता था, तो राजकुमार अधिकतर उन्ही की सलाह लेते थे। नरेन्द्र उनमें से एक थे, और नरेन्द्र अच्छी तरह जानते थे कि उनके अनुरोध को राजकुमार कभी भी न टालेंगे। राजकुमार के सिर के बाल गंगा-जमुनी रंग के थे, मूँछ भी वैसी ही थी; केवल उसके ऊपर दोनों ओर तम्बाकू के दाग थे। उन्हे कभी भी चपकन या कुरते में बटन लगाने की फुरसत नही मिलती थी, कंधे पर चादर जहाजी मोटे रस्से के समान बल खाए रहती थी। राजकुमार जाकर अपनी कुरसी के हत्थे पर चादर बाँधकर उस पर बैठ गए। बस त्योंही लड़कों ने खन्-खन् शब्द के साथ रुपया जमा करना आरम्भ कर दिया। राजकुमार के चारों ओर खूब भीड़ थी। नरेन्द्र भीड़ को चीरकर राजकुमार के पास गए और कहने लगे, "महाशय, देखिए, अमुक छात्र मासिक फीस नही दे सकेगा। इसलिए आप कृपा करके उसे माफ कर दीजिए। वह यदि परीक्षा मे भेजा जायगा, तो अच्छी तरह पास होगा। और यदि नही भेजा गया, तो उसका सारा परिश्रम मिट्टी मे मिल जायगा।"

का अधिकार राजकुमार नामक एक वृद्ध क्लर्क को था। राजकुमार सीधे-सादे मनुष्य थे, केवल थोड़ीसी नशा की लत थी किन्तु गरीब विद्यार्थियों के प्रति वे बड़े दयालु थे। उनकी दया के बल पर बहुत से असमर्थ छात्र बिना फीस दिए ही पढ़ लेते थे। फीस के सम्बन्ध में राजकुमार के ऊपर संचालकों का प्रगाढ़ विश्वास था। राजकुमार स्वय निर्णय करके किसी को आधी फीस और किसी को सम्पूर्ण फीस माफ कर भर्ती कर लेते थे। राजकुमार जो कुछ करते थे, संचालक लोग उसी को मंजूर कर लेते थे। इसलिए छात्रों में राजकुमार का खूब सम्मान था। सभी उस बूढे को बहुत चाहते थे। राजकुमार भी लड़कों के जौहरी थे। कौन कैसा लड़का है, इस बात को वे अच्छी तरह जानते थे। नरेन्द्र के असमर्थ मित्र हरिदास चट्टोपाध्याय ने येन-केन-प्रकारेण परीक्षा की फीस के रुपए तो जुटा लिए, किन्तु कालेज की साल भर की फीस के रुपए नहीं जमा कर पाए। इस बात को एक दिन उन्होंने नरेन्द्र से कहा। नरेन्द्र ने उन्हें आशवासन दिया, "तू चिन्ता न कर, परीक्षा में बैठने के लिए निश्चिन्त होकर प्रस्तुत रह। मैं राजकुमार से कहकर सब ठीक करा दूंगा। तेरी मासिक फीस माफ करा दूंगा। केवल परीक्षा की फीस का प्रबन्ध तुझे करना होगा।"

मित्र ने उत्तर दिया, "भाई, परीक्षा-फीस का तो प्रबन्ध कर चुका हूँ। मासिक फीस माफ हो जाने पर सब झंझट मिट जायगा।"

नरेन्द्र ने कहा, "तब सोच किस बात का? अब सब ठीक हो जायगा।" दो-एक दिन के बाद वे दोनों मित्र राजकुमार के कमरे के सामने टहल रहे थे, इसी समय वहाँ पर और भी बहुत

से छात्र आ उपस्थित हुए। बाद में राजकुमार आए। बहुत से लड़कों को एकत्रित देखकर एक बार सभी से बकाया मासिक फीस का तकाजा किया। इस बार का तकाजा कुछ जोरदार था; क्योंकि राजकुमार ने चेतावनी दी थी, "जो छात्र अमुक दिन के भीतर मासिक फीस के रुपए नहीं जमा करेंगे, वे परीक्षा में नहीं लिए जायेंगे।" छात्रगण राजकुमार को घेरकर अपनी-अपनी दुःख-गाथा सुनाने लगे, और बकाया फीस माफ करने के लिए प्रार्थना करने लगे। बहुत से अच्छे लड़के राजकुमार के प्रिय-पात्र थे। किसी लड़के के बारे में जब उन्हे कुछ निर्णय करना होता था, तो राजकुमार अधिकतर उन्हीं की सलाह लेते थे। नरेन्द्र उनमें से एक थे, और नरेन्द्र अच्छी तरह जानते थे कि उनके अनुरोध को राजकुमार कभी भी न टालेंगे। राजकुमार के सिर के बाल गंगा-जमुनी रंग के थे, मूँछ भी वैसी ही थी; केवल उसके ऊपर दोनों ओर तम्बाकू के दाग थे। उन्हे कभी भी चपकन या कुरते में बटन लगाने की फुरसत नही मिलती थी, कंधे पर चादर जहाजी मोटे रस्से के समान बल खाए रहती थी। राजकुमार जाकर अपनी कुरसी के हत्थे पर चादर बाँधकर उस पर बैठ गए। बस त्योंही लड़कों ने खन्-खन् शब्द के साथ रुपया जमा करना आरम्भ कर दिया। राजकुमार के चारों ओर खूब भीड़ थी। नरेन्द्र भीड़ को चीरकर राजकुमार के पास गए और कहने लगे, "महाशय, देखिए, अमुक छात्र मासिक फीस नही दे सकेगा। इसलिए आप कृपा करके उसे माफ कर दीजिए। वह यदि परीक्षा में भेजा जायगा, तो अच्छी तरह पास होगा। और यदि नही भेजा गया, तो उसका सारा परिश्रम मिट्टी में मिल जायगा।"

राजकुमार दाँत-मुँह सिकोड़कर कहने लगे, "तुम्हें मुखिया बनकर सिफारिश करने की आवश्यकता नहीं है, तुम जाओ, अपना काम करो, हमारी बातों में मत उलझो। यदि वह मासिक फीस नहीं देगा, तो मैं उसे परीक्षा में नहीं भेजूँगा।"

नरेन्द्र इस व्यवहार से खिन्न हो लौट आए। उनके मित्र के सिर पर तो जैसे वज्राघात हो गया; वे अत्यन्त विषण्ण हो नरेन्द्र के साथ चुपचाप क्लास की ओर चले, किन्तु नरेन्द्र पीछे हटनेवाले पात्र नहीं थे। वे अपने मित्र को चिन्तित देखकर उससे एकान्त में कहने लगे, "तू हताश क्यों हो रहा है? वह बुड्ढा इसी तरह मुँहफट जवाब दे देता है। मैं कहता हूँ, तेरे लिए कोई उपाय कर दूँगा, तू निश्चिन्त रह। जैसे भी हो, तेरे लिए कुछ-न-कुछ उपाय अवश्य करूँगा। तू इतना ही तो चाहता है न कि परीक्षा में बैठने को मिल जाय; बस हो गया। चिन्ता क्यों करता है, सत्य कहता हूँ, तेरे लिए कोई उपाय अवश्य करूँगा। इसे मेरी प्रतिज्ञा समझ।"

मित्र की आँखों से अन्धकार दूर हो गया, पुनः आशा की किरण दिखने लगी। मित्र ने सोचा, नरेन्द्र बड़े आदमी का लड़का है, बाप वकील हैं, उसको गाना सिखाने के लिए वेतन देकर शिक्षक रखते हैं; हो सकता है, नरेन्द्र अपने पिता से कहकर अपने इस असमर्थ मित्र के लिए कोई उपाय कर दे, इसी लिए तो उसे इतना आत्मविश्वास है। बकाया फीस न देने पर राजकुमार यदि परीक्षा देने के लिए नहीं भेजेंगे, तो नरेन्द्र अवश्य ही रुपयों का प्रबन्ध कर देगा। मित्र इस प्रकार सोच-विचारकर निश्चिन्त हो गए। इधर नरेन्द्र कालेज से घर आकर हेदो तालाब के किनारे थोड़ी देर तक घूमकर घर की ओर लौटे। किन्तु घर न जाकर

सिमुलिया बाजार के सामने टहलने लगे, और बीच-बीच में उत्सुक-नेत्रों से हेदो तालाब की ओर देखने लगे। बाजार के थोड़ी दूर पश्चिम जाकर दक्षिण में एक गली है, गली के मोड़ के ऊपर ही नशाखोरों का एक बड़ा अड्डा है। उस अड्डे में जाकर नरेन्द्र ने उसके मालिक से धीरे से कुछ पूछा। मालिक ने मुँह से बिना कुछ बोले गर्दन हिलाकर 'नही' कह दिया। नरेन्द्र पुनः हेदो तालाब की ओर दो-चार कदम बढ़कर बगल की ओर एक गली के भीतर जाकर कुछ ठहर गए। सन्ध्या का अन्धकार चारों ओर से घिर आया, एक दूसरे का मुँह नही दिखाई देता था। इसी समय उस गली में राजकुमार आकर उपस्थित हुए। बस नरेन्द्रनाथ उनका रास्ता रोककर खड़े हो गए। नरेन्द्रनाथ के खड़े होने का ढंग देखकर ही राजकुमार का मुँह सूख गया। अपने भाव को दबाकर वे बोले, "क्यों दत्त, यहाँ कैसे?"

नरेन्द्र गम्भीर स्वर में कहने लगे, "और क्या, बस आप

राजकुमार दाँत-मुँह सिकोड़कर कहने लगे, "तुम्हें मुखिया बनकर सिफारिश करने की आवश्यकता नहीं है, तुम जाओ, अपना काम करो, हमारी बातों में मत उलझो। यदि वह मासिक फीस नहीं देगा, तो मैं उसे परीक्षा में नहीं भेजूँगा।"

नरेन्द्र इस व्यवहार से खिन्न हो लौट आए। उनके मित्र के सिर पर तो जैसे वज्राघात हो गया; वे अत्यन्त विषण्ण हो नरेन्द्र के साथ चुपचाप क्लास की ओर चले, किन्तु नरेन्द्र पीछे हटनेवाले पात्र नहीं थे। वे अपने मित्र को चिन्तित देख कर उससे एकान्त में कहने लगे, "तू हताश क्यों हो रहा है? वह बुड्ढा इसी तरह मुँहफट जवाब दे देता है। मैं कहता हूँ, तेरे लिए कोई उपाय कर दूँगा, तू निश्चिन्त रह। जैसे भी हो, तेरे लिए कुछ-न-कुछ उपाय अवश्य करूँगा। तू इतना ही तो चाहता है न कि परीक्षा में बैठने को मिल जाय; बस हो गया। चिन्ता क्यों करता है, सत्य कहता हूँ, तेरे लिए कोई उपाय अवश्य करूँगा। इसे मेरी प्रतिज्ञा समझ।"

मित्र की आँखों से अन्धकार दूर हो गया, पुनः आशा की किरण दिखने लगी। मित्र ने सोचा, नरेन्द्र बड़े आदमी का लड़का है, बाप वकील हैं, उसको गाना सिखाने के लिए वेतन देकर शिक्षक रखते हैं; हो सकता है, नरेन्द्र अपने पिता से कहकर अपने इस असमर्थ मित्र के लिए कोई उपाय [illegible] तो उसे इतना आत्मविश्वास है। बकाया [illegible]
परीक्षा देने के लिए नहीं भेजें[illegible]
प्रबन्ध कर देगा। मित्र [illegible]
हो गए। इधर [illegible]
थोड़ी देर [illegible]

भी शेष नहीं था। विशालकाय इँगलैण्ड के इतिहास (Green's History of England) को नरेन्द्रनाथ ने एक बार भी नही पढ़ा था। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए नरेन्द्रनाथ की को विशेष चेष्टा उनके सहपाठीगण नही देखते थे। बीच-बीच में यद्यपि नरेन्द्र चोरबागान में अपने पूर्वोक्त मित्रों के स्थान पर पढ़ने के लिए जाते थे, किन्तु वहाँ जाने पर उनका अधिक समय बातचीत या गाना गाने में ही बीतता था। नरेन्द्र अपने मामा के यहाँ जिस छोटे कमरे में रहते थे, उसके उत्तर की ओर दूसरी मंजिल में एक बड़ा कमरा था, इस कमरे के पश्चिम मे एक चोर-कोठरी थी। इस बड़े कमरे के भीतर से उसमें प्रवेश करने का केवल एक दरवाजा था। वह इतना छोटा था कि उसमें प्रवेश करते समय पेट के बल जाना पड़ता था। उस कोठरी में दक्षिण की ओर एक छोटीसी खिडकी थी। इसी समय की बात है, एक दिन उनके कोई मित्र उनके यहाँ जाकर 'नरेन, नरेन' कहकर पुकारने लगे। नरेन्द्र ने उत्तर दिया; परन्तु मित्र ने घर में चारों ओर खोजकर जब उनको नही देखा, तो बड़े चकित हुए। उसी समय नरेन्द्र ने कहा, "इस चोर-कोठरी के भीतर हूँ।" उसी जगह से मित्र के साथ वार्तालाप हुआ। बाद में मित्र को पता चला कि दो दिन से नरेन्द्र इसी कोठरी में बैठकर इँगलैण्ड का इतिहास पढ़ रहे हैं; संकल्प करके बैठे हैं कि एक ही बैठक में इँगलैंड का इतिहास समाप्त करके ही कोठरी से बाहर निकलूँगा। नरेन्द्र ने संकल्पानुसार ही किया। तीन दिन में इस विशाल पुस्तक को पूर्ण रूप से हृदयंगम करके वे कोठरी के बाहर निकले। परीक्षा का दिन आया, परन्तु नरेन्द्र में किसी प्रकार का उद्वेग या परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए किसी प्र[illegible] उत्कण्ठा नहीं देखी गई।

लिए हुए खड़े होकर गाना गा रहे हैं। होगा तो थोड़ा पढ़ेंगे, इस विचार से वे मित्र के कमरे पर उपस्थित हुए थे, किन्तु कमरे के दरवाजे पर खड़े होकर गाना आरम्भ कर जिस भावोच्छ्वास की धारा में वहने लगे, उससे निकलकर पढ़ना-पढ़ाना कुछ भी उस दिन न हो सका। नौ वजे तक 'आमरा जे शिशु अति,' 'अचल घन गहन गुण गाओ ताहारि' आदि गाना और वार्तालाप का प्रवाह चलता रहा। बगल की कोठरी में नरेन्द्र के और एक सहपाठी रहते थे। नरेन्द्र का गाना जव प्रारम्भ हुआ, तो वे भी गोष्ठी में शामिल हुए, किन्तु थोड़ी देर गाना सुनने के बाद उन्हें परीक्षा की याद आई। उन्होंने गान-गोष्ठी छोड़कर जाने के समय वन्धु-भाव से नरेन्द्र को परीक्षा की बात का स्मरण करा दिया। नरेन्द्र ने थोड़ा हंस भर दिया, किन्तु गाने का प्रवाह नहीं रुका। यह देख सहपाठी मित्र वहाँ से उठ गए। एक दूसरे मित्र ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा, "नरेन्द्र, परीक्षा के दिन कहीं तो एक-आध कठिन विषय, जो अच्छी तरह तैयार न हो, ठीक कर लेना चाहिए, परन्तु तुम्हारा तो देखता हूं सभी कुछ विपरीत है; तुम तो बड़ी मौज कर रहे हो!"

मैं वेद का उतना ही अंश मानता हूँ, जितना युक्ति-संगत है। वेद के अनेक अंश तो स्पष्ट रूप से स्वविरोधी हैं। पाश्चात्य देशों में inspired या अनुप्राणित कहने से जो समझा जाता है, हमारे शास्त्र उस अर्थ में वेद को अनुप्राणित नहीं कहते। तो फिर वह है क्या? वह है भगवान के समुदय ज्ञान की समष्टि। यह ज्ञान-समष्टि युग के आरम्भ में प्रकाशित या व्यक्त होती है और युग के अन्त में सूक्ष्म या अव्यक्त भाव धारण करती है। युग का आरम्भ होने पर वह पुनः प्रकाशित होती है। शास्त्र का यह कथन ठीक अवश्य है, किन्तु केवल 'वेद' नाम के ग्रन्थ ही यह ज्ञानसमष्टि है, यह कहना मन को धोखा देना मात्र है। मनु एक स्थान में कहते हैं, 'वेद का जो अंश युक्तिसंगत है, वही वेद है, और शेष अंश वेद नहीं है।' हमारे बहुत से दार्शनिकों का भी यही मत है।

*　　　*　　　*　　　*

अद्वैतवाद के विरुद्ध जितने तर्क-वितर्क किए जाते हैं, उन सबका मूल यही है कि उसमें इन्द्रिय-सुख-भोग का स्थान नहीं है। हम आनन्द के साथ इस कथन को स्वीकार करने के लिए पूर्णतया तैयार हैं।

*　　　*　　　*　　　*

वेदान्त का यह पहला कथन है कि संसार दुःखमय है, शोक का आगार है, अनित्य है, इत्यादि। वेदान्त को पहले-पहल खोलते ही लोग दुःख-दुःख सुनकर अस्थिर हो उठते हैं, परन्तु उसके अन्त में परम सुख की अर्थात् यथार्थ सुख की बात पाई

इसका अर्थ यह नही कि ज्ञानी किसी सम्प्रदाय से घृणा करते है। नही, वे सभी सम्प्रदायो के अतीत ब्रह्म को जानकर सभी सम्प्रदायों से परे की अवस्था में पहुँच जाते है और सर्वदा उसमे प्रतिष्ठित रहते है। वे सम्प्रदायों को नष्ट-भ्रष्ट करके धूल मे मिलाने की चेष्टा नही करते, किन्तु सभी सम्प्रदाय उन्नति कर सके—इसमें वे सहायता करते हैं। सब नदियाँ जैसे समुद्र मे जाकर गिरती हैं और एक हो जाती हैं, उसी तरह सब सम्प्रदाय—सब मतो मे ही ज्ञान-प्राप्ति होती है। ज्ञान प्राप्त होने पर फिर कोई मत-भेद नही रह जाता।

* * * *

ज्ञानी कहते है—ससार का त्याग करना होगा। उसका अर्थ यह नहीं कि स्त्री-पुत्र-परिजन को नदी मे बहाकर वन में चले जाना होगा। सच्चे त्याग का अर्थ है—ससार में अनासक्त होकर रहना।

* * * *

मनुष्य का बारम्बार जन्म क्यो होता है? बारम्बार शरीर धारण करने से देह और मन के विकास मे सहायता मिलती है और आभ्यन्तरिक ब्रह्मशक्ति का प्रकाश होता रहता है।

* * * *

वेदान्त मनुष्य की विचार-शक्ति का यथेष्ट आदर करता अवश्य है, किन्तु साथ-ही-साथ यह भी कहता है कि युक्ति-विचार से भी बड़ी कोई वस्तु है। युक्ति-विचार की सहायता से उसकी सीमा के बाहर जाना होगा और उस वस्तु को प्राप्त करना होगा।

* * * *

भक्ति-लाभ कैसे हो?

—भक्ति तुम्हारे भीतर में ही है, केवल उसके ऊपर काम-कांचन का एक आवरण पड़ा हुआ है, उसके दूर होते ही भक्ति स्वयमेव प्रकाशित हो उठेगी ।

* * * *

जिह्वा के चलने से ही अन्यान्य इन्द्रियाँ चलने लगेंगी।

* * * *

ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म, इन चारों मार्गों से मुक्ति-लाभ होता है। जो जिस मार्ग के उपयुक्त हो, उसे उसी मार्ग से जाना होगा, किन्तु वर्तमान काल में कर्मयोग के ऊपर कुछ अधिक जोर देना होगा।

* * * *

धर्म कोई कल्पना की वस्तु नही है, वह एक प्रत्यक्ष वस्तु है। जिसने एक भूत को भी देख लिया है, वह अनेक पुस्तक पढ़नेवाले पण्डितों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

* * * *

एक समय स्वामीजी किसी व्यक्ति की खूब प्रशंसा कर रहे थे। इस पर उनके समीपवर्ती एक व्यक्ति ने कहा, "किन्तु वह तो आपको नही मानता है।" यह सुनकर स्वामीजी बोल उठे, "मुझे मानना ही पड़ेगा ऐसी क्या कोई शर्त है ? वह अच्छे काम कर रहा है, इसलिए प्रशसा का पात्र है।"

* * * *

जहाँ वास्तविक धर्म का राज्य है, वहाँ पढ़ाई-लिखाई को प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं।

* * * *

कोई-कोई कहते हैं, पहले साधन-भजन करके सिद्ध हो जाओ,

कि बाद कर्म करने का अधिकार प्राप्त होगा, कोई-कोई कहते आरम्भ से ही कर्म करना होगा; इनमें सामजस्य कहाँ पर है ?

—तुम लोगों ने दोनों बातों को समझने में गड़बड़ी मचा ी है। कर्म के अर्थ हैं—एक, जीव-सेवा और दूसरा, प्रचार। चे प्रचार-कार्य में अवश्य ही सिद्धपुरुष के अतिरिक्त दूसरों अधिकार नहीं हैं। किन्तु सेवा-कार्य में सभी को अधिकार अधिकार ही नहीं, सेवा करने के लिए सभी बाध्य भी हैं, ब तक कि वे स्वयं दूसरों की सेवा ले रहे हैं।

*　　*　　*　　*

धार्मिक सम्प्रदायों के भीतर जिस दिन से बड़े लोगों के ए छूट-छाट आरम्भ होगी, उसी दिन से उन सम्प्रदायों का न आरम्भ हो जायगा।

*　　*　　*　　*

भगवान श्रीकृष्णचैतन्य में भाव (feelings) का जैसा काश हुआ था, वैसा और कहीं भी नहीं देखा जाता।

*　　*　　*　　*

यह सच है कि कट्टरपन से धर्म-प्रचार अति शीघ्र होता है, कन्तु सभी को अपने-अपने मत में स्वतन्त्रता देकर एक उच्च पथ पर पहुँचाने से पक्का धर्म-प्रचार होता है, भले ही इसमें कुछ देरी लगे।

*　　*　　*　　*

साधना के लिए यदि शरीर जाय भी, तो जाने दो।

*　　*　　*　　*

साधु-सग में रहते-रहते ही धर्म-लाभ हो जायगा। गुरु के आशीर्वाद से शिष्य बिना पढ़े भी पण्डित हो जाता है।

*　　*　　*　　*

गुरु किनको कहा जाय ?

——जो तुम्हारे अन्तर की पुंजीकृत संस्कारराशि को देख सकें और यह बतला सकें कि उसने भूतकाल में तुमको किस रूप से नियमित किया तथा भविष्य काल में तुम्हें कहाँ ले जायगी, अर्थात् जो तुम्हारे भूत-भविष्य को बतला सकें, वे ही तुम्हारे गुरु हैं।

*　　*　　*　　*

जो कोई भी व्यक्ति आचार्य नहीं हो सकता, किन्तु मुक्त बहुत से हो सकते हैं। जो मुक्त हैं, उनके समीप सम्पूर्ण जगत् स्वप्न-तुल्य है, परन्तु आचार्य को दोनों अवस्थाओं के मध्य में रहना होता है। उनको यह ज्ञान रखना पड़ता है कि जगत् सत्य है, अन्यथा वे उपदेश किस प्रकार दे सकेंगे ? और यदि उन्हें जगत् स्वप्नतुल्य प्रतीत नहीं हुआ, तब तो वे साधारण मनुष्य के समान हो गए, फिर वे भला शिक्षा ही क्या देंगे ? आचार्य को शिष्यों के पापों का भार लेना पड़ता है। इसी से शक्तिमान आचार्य के शरीर में व्याधियाँ आदि होती हैं। किन्तु यदि वे कच्चे हों, तो उनके मन पर भी उसकी प्रतिक्रिया होती है और उनका पतन हो जाता है। ऐरा-गैरा कोई भी व्यक्ति आचार्य नहीं हो सकता।

*　　*　　*　　*

ऐसा समय भी आयगा, जब समझ सकोगे कि एक चिलम तमाकू सजाकर लोगों की सेवा करना भी कोटि-कोटि ध्यान की अपेक्षा बड़ा है।

हमारे अन्य प्रकाशन

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत—तीन भागो में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय सस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग (द्वि.सं.)—मूल्य ६); तृतीय भाग (द्वि.सं.)—मूल्य ७)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत—(विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)—दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. विवेकानन्द-चरित—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय सस्करण)—सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७-८. धर्म-प्रसग में स्वामी शिवानन्द—दो भागो में, प्रत्येक भाग का मूल्य २॥)

९. परमार्थ-प्रसग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई) कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥) कार्डबोर्ड की जिल्द, " ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

१०. विवेकानन्दजी के संग में—(वार्तालाप)—शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि स, मूल्य ५।)

११. भारत में विवेकानन्द (भारतीय व्याख्यान) (द्वि स.) ५)
१२. ज्ञानयोग ३)
१३. पत्रावली (प्रथम भाग) २=)
१४. पत्रावली (द्वितीय भाग) २=)
१५. देववाणी २=)
१६. धर्मविज्ञान (द्वि.सं) १॥=)
१७. हिन्दू धर्म (द्वि.स) १॥)
१८. [illegible]) १।=)
[illegible]) १।=)
२०. भक्तियोग (तृ सं) १।=)
२१ स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप १।=)
२२ आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (च स) १।)
२३ परिव्राजक (च स) १।)
२४. प्राच्य और पाश्चात्य (च स) १।)
२५. महापुरुषों की जीवनगाथायें (च स) १।)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर – १, म. प्र.